सांख्य
दर्शन

॥ ओ३म् ॥

श्रीमन्महर्षि कपिल मुनि प्रणीतम्

सांख्य-दर्शन

भाष्यकार—

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती

प्रकाशक:—

सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड,
पाटौदी हाउस, दरियागंज, दिल्ली-७

मुद्रक :—

सार्वदेशिक प्रेस, दरियागंज, दिल्ली।

१००० } सं० २०१७ वि० { मूल्य [illegible])

❀ ओ३म् ❀

सांख्य दर्शन

भाषा टीका

प्रथमोऽध्यायः

प्र०—मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उ०—अथ त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः ॥ १ ॥

अर्थ—तीन प्रकार के दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाना प्राणीमात्र का मुख्य उद्देश्य है।

प्र०—तीन प्रकार के कौन से दुःख हैं ?

उ०—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।

प्र०—आध्यात्मिक दुःख किसको कहते हैं ?

उ०—जो दुःख शरीरान्तर में उत्पन्न हो, जैसे—ईर्ष्या, द्वेष, ..., मोह, क्लेश, रोगादि।

प्र०—आधिभौतिक दुःख किसे कहते हैं ?

उ०—जो अन्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न हो, जैसे—सर्प के काटने या सिंह से मारे जाने या मनुष्यों के परस्पर युद्ध से जो दुःख उपस्थित हो, उसे आधिभौतिक कहते हैं।

प्र०—आधिदैविक दुःख किसको कहते हैं ?

उ०—जो दुःख दैवी शक्तियों अर्थात् अग्नि, वायु या जल के न्यूनाधिक्य से उपस्थित हों, उनको आधिदैविक कहते हैं।

प्र०—समय के विचार से दुःख कितने प्रकार के होते हैं ?

उ०—तीन प्रकार के अर्थात् भूत, वर्त्तमान, अनागत।

प्र०—क्या इन तीनों के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये ?

उ०—केवल अनागत के लिये पुरुषार्थ करना योग्य है, क्योंकि भूत तो व्यतीत हो जाने के कारण नाश हो ही गया, और वर्त्तमान दूसरे क्षण में भूत हो जाता है, अतएव यह दोनों स्वयं नाश हो जाते हैं, केवल अनागत का नाश करना आवश्यकीय है।

प्र० - जो दुःख अभी उत्पन्न नहीं हुआ या जो क्षुधा अभी नहीं लगी उसका नाश किस प्रकार हो सकता है ?

उ०—"कारणाभावात् कार्य्याभावः" (वैशेषिक)—

अर्थ—कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है, अतएव दुःख के कारण का नाश करना चाहिये; क्योंकि कारण के नाश से अनागत दुःख का नाश हो जाता है। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है "हेयं दुःखमनागतम्"।

अर्थ—आगामी दुःख 'हेय' अर्थात् त्यागने योग्य है, उसी के दूर करने का प्रयत्न करो।

प्र०—इस सांख्य शास्त्र में किस वस्तु का वर्णन किया गया है ?

उ०—'हेय' अर्थात् दुःख 'हान' अर्थात् दुःख निवृत्ति। 'हेयं

हेतु' अर्थात् दुःख के उत्पन्न होने का कारण, 'हानोपाय' अर्थात् दुःख के नाश करने का उपाय ।

प्र०--क्या दुःख अन्न और औषध इत्यादि से दूर नहीं होता?

उ०--दुःख की अत्यन्त निवृत्ति किसी प्राकृतिक वस्तु से नहीं हो सकती, जैसा कि लिखा है :—

न दृष्टात् दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति-दर्शनात् ॥ २ ॥

अर्थ--दृष्ट पदार्थों अर्थात् औषधादि द्वारा दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाना सम्भव नहीं, क्योंकि जिस पदार्थ के संयोग से दुःख दूर होता है, उसके वियोग से वही दुःख फिर उपस्थित हो जाता है, जैसे--अग्नि के निकट बैठने या कपड़े के संसर्ग से शीत दूर होता है और अग्नि या कपड़े के अलग होने से फिर वही शीत उपस्थित हो जाता है, अतएव दृष्ट पदार्थ अनागत दुःख की औषध नहीं ।

प्र०—क्या दृष्ट पदार्थ दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का कारण नहीं?

उ०--नहीं ।

प्र०—प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ--नित्यप्रति क्षुधा लगती है उसकी निवृत्ति भोजन से हो जाती है। इसी प्रकार और दुःख भी प्राकृतिक वस्तुओं से दूर हो सकते हैं अर्थात् जैसे औषध से रोग की निवृत्ति हो जाती है, अतएव वर्त्तमान काल के दुःख दृष्ट पदार्थों से दूर हो जाते हैं, इसी को पुरुषार्थ मानना चाहिये ।

उ०—सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्वासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ॥ ४ ॥

अर्थ--प्रथम तो प्रत्येक दुःख दृष्ट पदार्थों से दूर ही नहीं होता, क्योंकि सर्व वस्तु प्रत्येक देश और काल में प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मान भी लें कि प्रत्येक आवश्यकीय वस्तुएँ सुलभ भी हों तथापि उन पदार्थों से दुःख का अभाव नहीं हो सकता, केवल दुःख का तिरोभाव कुछ काल के लिए हो जायगा; अतएव बुद्धिमान् को चाहिये कि दृष्ट पदार्थों से दुःख दूर करने का प्रयत्न न करे, दुःख के मूलोच्छेद करने का प्रयत्न करे, जैसा कि लिखा है--

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्ष सब सुखों से परे है और प्रत्येक बुद्धिमान् सब से परे पदार्थ की ही इच्छा करता है। इस हेतु से दृष्ट पदार्थों को छोड़कर मोक्ष के लिए प्रयत्न करें, यही प्राणियों का मुख्य उद्देश्य है।

अविशेषश्चोभयोः ॥ ६ ॥

अर्थ--यदि मोक्ष को अन्य सुखों के समान माना जावे तो दोनों बातें समान हो जावेंगी, परन्तु क्षणिक सुख को महाकल्प पर्य्यन्त सुख के समान समझना बड़ी मूर्खता है।

प्र०--तुम जो मोक्ष को सब से उत्तम जानते हो और मोक्ष छूटने को कहते हैं, छूटता वही है, जो बन्धन में हो। क्या यह जीव बन्धन में है? यदि कहो कि बन्धन में है तो वह बन्धन उसका स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक?

उ०—न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥ ७ ॥

अर्थ-दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं, क्योंकि जो गुण स्वभाव से होता है, वह गुणी से अलग नहीं होता, अतएव दुःख के नाश के कथन से ही प्रतीत होता है, कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं, क्योंकि वह गुणी से अलगहो ही नहीं सकता।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वाभाविक गुण के अविनाशी होने से जिन मन्त्रों में दुःख दूर करने का उपदेश किया गया है, वह सब प्रमाण नहीं रहेंगे, अतएव दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं है।

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥

अर्थ—निष्फल कर्म्म के निमित्त वेद में कभी उपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि असम्भव के लिये उपदेश करना भी न करने के समान है, अतएव दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं, किन्तु नैमित्तिक है।

प्र०—शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥ १० ॥

अर्थ—स्वाभाविक गुण का भी नाश हो जाता है, जैसे—श्वेत वस्त्र का श्वेत रंग स्वाभाविक गुण है, परन्तु वह मैला लाल हो जाने से नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बीज में अंकुर लाने का स्वाभाविक गुण है, परन्तु वह बीज के जला देने से नष्ट हो जाता है, अतएव यह विचार करना ठीक नहीं।

उ०—शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११॥

अर्थ—उपर्युक्त उदाहरण स्वाभाविक गुण के अत्यन्ताभाव का सर्वथा अयुक्त व अप्रामाणिक है; क्योंकि यह तो शक्ति के गुप्त व प्रकट होने का उदाहरण है; क्योंकि यदि रजक के धोने से

पुनः यह वस्त्र श्वेत न हो जाता तब यह ठीक होता। इसी प्रकार जला हुआ बीज अनेक औषधियों के मेल से ठीक हो जाता है, अतएव यह कथन ठीक नहीं कि स्वाभाविक गुण का भी नाश हो सकता है।

प्र०—यदि मान लिया जाय कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं तो किन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है ? मेरी सम्मति में तो सृष्टिकाल में दुःख उत्पन्न होता है और सृष्टि के नाश से दुःख नष्ट हो जाता है। इस हेतु से दुःख का कारण काल है ?

उ०----न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥ १२ ॥

अर्थ—दुःख काल के कारण से नहीं हो सकता, क्योंकि काल सर्वव्यापक और नित्य है और उसका सब से सम्बन्ध है, अतएव काल के हेतु से तो बन्धन और मुक्त हो नहीं सकता; क्योंकि यदि काल ही दुःख का हेतु माना जावे तो सबही दुःखी होने चाहियें।

प्र०—तो क्या देश-योग से दुःख उत्पन्न होता है ? क्योंकि बहुत से लोग यह कहते हैं कि अटक पार जाने से पाप होता है और उससे दुःख उत्पन्न होता है ?

उ०---न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥ १३ ॥

अर्थ—चूंकि काल के अनुसार देश भी सर्वव्यापक और सबसे सम्बंन्ध रखने वाला तथा नित्य है, इसलिये देश-योग से बन्धन नहीं हो सकता।

प्र०—तो फिर क्या अवस्था अर्थात् दशाओं के हेतु से दुःख उत्पन्न होता है ? क्योंकि तीन अवस्था अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न

और सुषुप्ति या बाल्यावस्था या युवावस्था या वृद्धावस्था इन छः दशाओं में किसके हेतु से दुःख और बन्धन होता है ?

उ०----नावस्थातो देहधर्म्मत्वात् तस्याः ॥ १४ ॥

अर्थ—इन दशाओं से भी दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि बाल, युवा और वृद्धावस्था शरीर के धर्म हैं। यदि अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन माना जाय तो सर्वथा अन्याय है; क्योंकि किसी दूसरे बन्धनयुक्त मनुष्य के धर्म से कोई मुक्त बन्धन में पड़ जायगा और मुक्त के धर्म से कोई बद्धमुक्त हो जायगा।

प्र०—क्या इन अवस्थाओं से जीव का कोई सम्बन्ध नहीं, ये केवल शरीर की हैं ?

उ०----असंगोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥

अर्थ—यह जीव सर्वथा असंग है, इसका बाल्य, वृद्ध और युवावस्था से किंचित् सम्बन्ध नहीं।

प्र०—तो क्या दुःख अर्थात् बन्धन के उत्पन्न होने का हेतु कर्म है ?

उ०----न कर्मणान्यधर्म्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥

अर्थ—वेदविहित या निषिद्ध कर्मों से जीव का बन्धन रूपी दुःख उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि कर्म करना भी शरीर वा चित्त का धर्म है। द्वितीय कर्म शरीर से होगा और शरीर कर्म के फल से होता है, तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा। तीसरे यदि शरीर का कर्म आत्मा के बन्धन का हेतु माना जावे तो बन्धन में हुए जीव के कर्म से मुक्त-जीव का बन्धन होना सम्भव हो सकता है, अतएव कम द्वारा बन्धन उत्पन्न नहीं होता।

प्र०—तो हम दुःखरूप बन्धन भी चित्त को ही मान लेंगे, उस दशा में चित्त के कर्म द्वारा चित्त को बन्धन होने से कोई दोष नहीं रहेगा ?

उ०----विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्म्मत्वे । १७ ॥

अर्थ—यदि दुःख भोग-रूप बन्धन केवल चित्त का धर्म माना जाय तो नाना प्रकार के भोग में संसार प्रवृत्त है, नहीं रहना चाहिये, क्योंकि जीव को दुःख होने के बिना ही यदि दुःख का अनुभवकर्त्ता माना जाय तो सारे मनुष्य दुःखी हो जायेंगे; क्योंकि जिस प्रकार दुःख का सम्बन्ध न होने से जैसे दुःखी प्रतीत होता है ऐसे ही दुःख के न होने पर सब लोग दुःखी हो सकते हैं, अतएव कोई दुःखी या कोई सुखी इस प्रकार अन्य प्रकार का भोग नहीं हो सकेगा।

प्र०—क्या प्रकृति के संयोग से दुःख होता है?

उ०----प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि बन्धन का कारण प्रकृति मानो तो प्रकृति स्वयं ही स्वतन्त्र नहीं, तो परतन्त्र प्रकृति किसी को किस प्रकार बांध सकती है; क्योंकि जबतक प्रकृति का संयोग न हो तबतक वह किसी को बांध ही नहीं सकती और संयोग दूसरे के अधिकार में है।

प्र०—क्या ब्रह्म ही उपाधि से जीव रूप होकर अपने आप बंध गया है?

उ०---न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥ १९ ॥

अर्थ—जो ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है, उसका तो प्रकृति के साथ सदैव सम्बन्ध है, इसलिये वह जीव-रूप होकर दुःख नहीं पा सकता, क्योंकि उसके गुण एक रस हैं, इस कारण ब्रह्म को उपाधिकृत बन्धन नहीं, वरन् जीव अल्पज्ञ, नित्य पदार्थ

है उसी का प्रकृति के साथ योग होता है और वह मिथ्याज्ञान के कारण बद्ध हो जाता है, जैसा कि आगे कथन होगा।

प्र०—तो क्या अविद्या से ब्रह्म ही जीव हो गया है और इस दुःख की उत्पत्ति केवल अविद्या से है ?

उ०—नाविद्यातोऽप्यवस्तुनो बन्धायोगात् ॥२०॥

अर्थ—अविद्या से, जो कोई पदार्थ ही नहीं, बन्धन का होना सम्भव नहीं, क्योंकि आकाश के फूल की सुगन्ध किसी को भी नहीं आती। यदि मायावादी जो अविद्या, उपाधि से जीव का बन्धन मानते हैं अविद्या को वस्तु अर्थात् द्रव्य मानते हैं तो उनका सिद्धान्त उड़ जायगा जैसा कि लिखा है :—

उ०—वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥ २१ ॥

अर्थ—यदि अविद्या को वस्तु मान लिया जावे तो उनके एक अद्वैत ब्रह्म के सिद्धान्त का खण्डन हो जायेगा, क्योंकि एक वस्तु जो ब्रह्म है दूसरी अविद्या हो गई, इसलिये अद्वैत न रहा।

प्र०—इसमें क्या दोष है ?

उ०—विजातीयाद्वैतापत्तिश्च ॥ २२ ॥

अर्थ—अद्वैतवादी ब्रह्म को सजातीय अर्थात् बराबर जाति वाले, विजातीय विरुद्ध जाति वाले, स्वगत अपने भाग इत्यादि के भेद से रहित मानते हैं और यहाँ अविद्या के वस्तु मानने से विजाति अर्थात् दूसरी जाति का पदार्थ उपस्थित होने से अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन हो गया।

प्र०—हम अविद्या को वस्तु और अवस्तु दोनों से पृथक् अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं, जैसे—

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि दोनों से पृथक् मानो तो यह दोष आ जायगा ।

उ०—न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस प्रकार अविद्या वस्तु अवस्तु से पृथक् नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सत् असत् से पृथक् हो और यहां यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि तुम्हारी अविद्या के अनिर्वचनीय होने में कोई प्रमाण है या नहीं। यदि 'कहो प्रमाण है तो वह प्रमेय हो गई, फिर अनिर्वचनीय किस प्रकार हो सकती है । यदि कहो प्रमाण नहीं, तो उसके होने का क्या प्रमाण है ?

उ०—न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥२५॥

अर्थ—हम षट् पदार्थों को वैशेषिक के सदृश नहीं मानते और न्याय के समान सोलह भी नहीं मानते हैं । इस कारण हमारे मत में सत् असत् से अविद्या विलक्षण होना ठीक है और वही बन्ध का हेतु है ।

उ०—अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६ ॥

अर्थ—आप पदार्थों की संख्या का नियम मानें चाहें न मानें, परन्तु सत् असत् से पृथक् कोई पदार्थ बिना युक्ति के माननीय नहीं हो सकते । नहीं तो इस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना भी ठीक हो सकता है । जिस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना युक्तिशून्य होने से प्रामाणिक नहीं, इसी प्रकार तुम्हारा कहना भी असंगत है ।

प्र०—तो क्या जीव अनादि वासना से बन्धन में पड़ा है ?

उ०—नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ॥२७॥

अर्थ—इस आत्मा को अनादि-प्रवाह-रूप-वासना से बन्धन होना भी असम्भव मालूम होता है, क्योंकि निम्नलिखित प्रमाण से अशुद्ध प्रतीत होता है।

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य जीव-आत्मा को शरीर में एकदेशी मानते हैं, इस कारण जीव-आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध बाह्य विषयों से नहीं रहेगा, क्योंकि आत्मा और जड़ के बीच अति देश का अन्तर है, जैसे—पटने का रहने वाला बिना आगरे पहुंचे वहां के रहने वाले को नहीं बांध सकता, इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासना आभ्यन्तरस्थ आत्मा के बन्धन का हेतु किस प्रकार हो सकती है? और लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है कि जब रङ्ग और वस्त्र का सम्बन्ध बिना अन्तर के होता है तब तो वस्त्र पर रङ्ग चढ़ जाता है। यदि उनके बीच कुछ अन्तर हो तो रंग कदापि नहीं चढ़ सकता, अतएव वासना से बन्धन नहीं हो सकता, परन्तु जब लोग आत्मा और बाह्य इन्द्रियों में अन्तर मानते हैं तो इन्द्रियकृत वासना से आत्मा किसी प्रकार बन्धन में नहीं आ सकती। यदि यह कहा जाय कि बाह्य इन्द्रियों का आभ्यन्तर इन्द्रिय मन आदि से सम्बन्ध है और आभ्यन्तर इन्द्रियों का आत्मा से। इस परम्परा सम्बन्ध से आत्मा भी विषय वासना से बद्ध हो सकता है, यह कहना अयुक्त ही है; क्योंकि :—

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥ २९ ॥

जब आत्मा और इन्द्रिय दोनों को विषय-वासना में बंधा हुआ मानोगे तो मुक्त और बन्धन में रहने वाले का पता भी नहीं

लगेगा। इसका आशय यह है कि जब आत्मा और इन्द्रिय दोनों ही विषय-वासना से समान सम्बन्ध रखते हैं तो इन्द्रियों का बन्धन न कह कर केवल आत्मा ही का बन्धन बतलाना अयुक्त होगा। इस कारण वासना से भी बन्धन नहीं होता।

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३० ॥

प्र०—तो क्या फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व किये धर्म-अधर्म से जो एक भोग-शक्ति पैदा होती है उससे बन्धन होता है?

उ०—न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारक-भावः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जब तुम्हारा बन्धन और अदृष्ट एक काल में उत्पन्न होते हैं तो उनमें कर्त्ता और कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में संसार प्रत्येक क्षण में बदलता है तो एक स्थिर आत्मा के न होने से दूसरे आत्मा के अदृष्ट से दूसरे आत्मा का बन्धन रूप दोष होगा।

प्र०—पुत्रकर्म्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार उसी काल में तो गर्भाधान किया जाता है और उसी समय उसका संस्कार किया जाता है, अतएव एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में पूर्व कथित सम्बन्ध हो सकता है?

उ०—नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥

अर्थ—तुम्हारे मत में तो एक स्थिर जीवात्मा ही नहीं जिस का गर्भाधानादि से संस्कार किया जावे, अतएव तुम्हारा पुत्र-

कर्म वाला दृष्टान्त ठीक नहीं। यह दृष्टान्त एक स्थिर आत्मा मानने वालों के मत में तो कुछ घट भी सकता है।

प्र०—बन्धन भी (क्षणिक) एक क्षण भर रहने वाला है, इसलिये उसका कारण अर्थात् नियम नहीं, या अभाव ही उसका कारण है, अथवा वह बिना कारण ही है?

उ०——स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥३४॥

अर्थ—यदि तुम बन्धन को (क्षणिक) एक क्षण रहने वाला मानो तो उसमें दीपशिखा अर्थात् दीपज्योति के समान दोनों का कोई स्थिर कार्य्य उत्पन्न नहीं होगा। इसे अगले सूत्र से स्पष्ट करते हैं कि कार्य्य को क्षणिक मानने में क्या दोष होगा।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥३५॥

अर्थ—लोक में कोई भी पदार्थ (क्षणिक) अर्थात् एक क्षण रहने वाला नहीं, क्योंकि यह ज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह कहता हुआ सुनाई देता है कि जिसको मैंने देखा उसको स्पर्श किया। दृष्टान्त यह है कि जैसे कि यदि एक घोड़ा मोल लिया जावे तो क्षणिकवादी के मत में परीक्षा करके मोल लेना असम्भव है; क्योंकि जिस क्षण में घोड़े को देखा था तब और घोड़ा था, जिस क्षण में हाथ लगाया तब और था, दुबारा देखा तब और हुआ, इस कारण कोई कार्य हो ही नहीं सकता। अतएव जिसके लिये दृष्टान्त न हो वह ठीक नहीं; इसलिये बन्धनादि क्षणिक नहीं वरन् स्थिर है और प्रमाण देते हैं—

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥३६॥

अर्थ—यह कहना कि जगत् एकक्षण रहता है श्रुति अर्थात् वेद और न्याय अर्थात् तर्क से सर्वथा विरुद्ध है, जैसा कि लिखा है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'

अर्थ—हे सौम्य ! इस जगत् से पहिले भी सत् था अर्थात् जगत् का कारण था ।

'तत एवेदमग्र आसीत्'

अर्थ—इस सृष्टि से पहिले यह जगत् तमोरूप अर्थात् नाम-रूपज्ञान जो कार्य में है इससे पृथक् सत्रूप था और न्याय से इसलिये विरुद्ध है कि असत् से सत् किसी प्रकार हो नहीं सकता, इस कारण यह बन्धनरूप दुःख न तो क्षणिक है, बिना कारण ही है । और प्रमाण लीजिये—

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥३७॥

अर्थ—क्षणिक में जो दीपशिखा का दृष्टान्त दिया वह अयुक्त है, क्योंकि क्षण ऐसा सूक्ष्म काल है कि जिसकी इयत्ता (अन्दाजा) नहीं हो सकती और न उसकी कुछ इयत्ता (तादाद) है और प्रत्यक्ष में दीपशिखा कई क्षण तक एक-सी बराबर रहती है, यह कथन भी सर्वथा अयुक्त है और क्षणिकवादियों के मत में एक दोष यह भी होगा कि कारण और कार्य भाव नहीं हो सकेगा और जब कार्य्य कारण का नियम न रहा तो किसी रोग की औषध जो निदान अर्थात् कारण के ज्ञान को जानकर उसके विरुद्ध शक्ति से की जाती है नहीं हो सकेगी और संसार में जो घट कारण मृत्तिका को माना जाता है सर्वथा न कह सकेंगे क्योंकि जिस क्षण में मृत्तिका घट का कारण है वह क्षण अब नष्ट हो गया और यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि मृत्तिका घट का कारण नहीं; क्योंकि बिना कारण जाने घट बनाने में कुलाल की प्रवृत्ति नहीं होती और यदि दोनों की अर्थात् मृत्तिका और घट की उत्पत्ति एक ही क्षण में मानें तो दोष होगा—

युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारणभावः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं उनमें कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा कोई दृष्टांत लोक में नहीं है, जिसमें कार्य-कारण की उत्पत्ति एक साथ ही हो। यदि क्षणिक-वादी यह कहें कि मृत्तिका और घट क्रम से हैं, पहले मृत्तिका कारण फिर घट कार्य उत्पन्न हो गया तो इसमें भी दोष है।

पूर्व्वापाये उत्तरायोगात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस पक्ष में यह दोष होगा कि पूर्व क्षण में मृत्तिका उत्पन्न हुई, दूसरे क्षण में नष्ट हुई, तब पीछे उसमें कार्य्यरूप घट क्योंकर उत्पन्न हो सकता है? इसलिये जब तक उपादान कारण न माना जाय तबतक कार्य्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव कार्य्य-कारण भाव क्षणिकवादियों के मत से सिद्ध नहीं हो सकता।

उ०—तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥४०॥

अर्थ—कारण की विद्यमानता से और कार्य के साथ उसका सम्बन्ध न मानने से दोनों दशाओं में व्यभिचार दोष होने से कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं रहता। जब कार्य बनता था तब तो कारण नहीं था और कारण हुआ तब कार्य बनाने का विचार नहीं, अतएव क्षणिकवादियों के मत में कार्य-कारण का सम्बन्ध किसी प्रकार हो नहीं सकता।

प्र०—जिस प्रकार घट का निमित्त कारण कुलाल पहिले से ही माना जाता है, यदि इसी भांति उपादान कारण भी माना जावे तो क्या शंका है?

उ०—पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि कारण को नियत न मानकर पूर्वभावमात्र ही माना जावे तो यह नियम न रहेगा कि मृत्तिका ही से घट बनता है और वायु से नहीं बनता; क्योंकि क्षणिकवादी किसी विशेष कारण को भाव से तो मानते नहीं, किन्तु भाव ही मानेंगे। अतएव उपरोक्त दोष बना रहेगा और निमित्त कारण और उपादान का अन्तर भी मालूम नहीं होगा और लोक में उपादान कारण और निमित्त कारण का भेद निश्चित है, इसलिये क्षणिकवाद ठीक नहीं।

प्र०—जो कुछ संसार में है, सब मिथ्या ही है, और संसार में होने से बन्धन भी मिथ्या है, अतएव उसका कारण खोजने की कोई आवश्यकता नहीं, वह स्वयम् नाशरूप है?

उ०—न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस जगत् को केवल मिथ्याज्ञान या विज्ञानमात्र नहीं कह सकते; क्योंकि ज्ञान आन्तरिक अर्थात् भीतर ही होता है और जगत् बाहर और भीतर दोनों दशाओं में प्रकट है।

प्र०—जब हम बाहर किसी पदार्थ के भाव को मानते ही नहीं केवल भीतर के विचार ही मनोराज्य की सृष्टि की भांति मालूम होते हैं?

उ०—तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ॥ ४३ ॥

अर्थ—यदि तुम जगत् को बाह्य न मानो केवल भीतर ही मानोगे तो इस दीखते हुए संसार में विज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा और जगत को शून्य कहना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि प्रतीति विषय का साधन करने वाली होती है, इसलिये यदि बाह्य प्रतीति जगत् का साधन न करे तो विज्ञान प्रतीति भी विज्ञान को नहीं सिद्ध कर सकती, इस हेतु से विज्ञानवाद में शून्यवाद हो जायगा।

प्र०—अब शून्यवादी नास्तिक अपनी दलील देता है।

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्वि-
नाशस्य ॥ ४४ ॥

अर्थ—जितने पदार्थ हैं सब शून्य हैं, और जो कुछ भाव हैं, वह सब नाशवान् हैं, और जो विनाशी है, वह स्वप्न की भांति मिथ्या है। इससे सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि और अन्त का तो अभाव सिद्ध ही हो गया। अब रहा केवल मध्यभाग सो यथार्थ नहीं—तब कौन किसको बांध सकता है? और कौन छोड़ सकता है? इस हेतु से बन्ध मिथ्या ही प्रतीत होता है। विद्यमान वस्तुओं का नाश इसलिये है कि नाश होना वस्तुमात्र का धर्म है। इस शून्यवादी के पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं।

उ०—अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—'जो कुछ भाव पदार्थ हैं वह सब नाशवान् हैं' यह कथन मूर्खों का अपवादमात्र है; क्योंकि नाशमात्र वस्तु का स्वभाव कह कर, नाश में कुछ कारण न बताने से जिन पदार्थों का कुछ अवयव नहीं है उनका नहीं कह सकते। इसका हेतु यह कि कारण में लय हो जाने को ही नाश कहते हैं, और जब निरवयव वस्तुओं का कुछ कारण न माना तो उनका लय किसी में न होने से उनका नाश न हो सकेगा। इसके सिवाय एक और भी दोष रहेगा कि हर एक कार्य का अभाव लोक में नहीं कह सकते; जैसे—"घट टूट गया," इस कहने से यह ज्ञात होगा, कि घट की दूसरी दशा हो गई; परन्तु घटरूपी कार्य तो बना ही रहा। आकृति को इस हेतु से माना कि वह एक घट के टूट जाने से दूसरे घटों में तो रहती है।

अब तीनों लक्षणों का खण्डन करते हैं अर्थात्—विज्ञानवादी, क्षणिकवादी और शून्यवादी।

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकवादी और विज्ञानवादी का मत प्रत्यभिज्ञादि दोष बाह्य प्रतीति से खण्डित हो जाता है, इसी प्रकार शून्यवादी का मत भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि उस दशा में पुरुषार्थ का बिल्कुल अभाव हो जाता है। यदि यह कहो कि शून्यवाद करने पर भी पुरुषार्थ तो स्वीकार करते हैं, तो वह भी मानना अयुक्त होगा।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

अर्थ—शून्यवादी के मत में पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब दुःख है ही नहीं केवल शून्य ही है तो उसकी निवृत्ति का उपाय क्यों किया जावे और मुक्ति भी शून्य ही होगी उसके लिए साधन भी शून्य ही होंगे, तो ऐसे शून्य पदार्थ के लिये पुरुषार्थ भी शून्य ही होगा। अतएव शून्यवादी का मत किसी प्रकार भी शान्तिदायक नहीं और न उससे मुक्ति हो सकती है।

न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥

अर्थ—गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन, प्राप्ति। ये तीनों बन्धन का हेतु नहीं होते। पहिले जब कहा जावे कि ज्ञान विशेष से बन्धन होता है। ज्ञान तीन प्रकार का है—प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक। यदि कहा जावे कि प्रातिभासिक सत्ता के ज्ञान से बन्धन होता है तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय और संस्कार-दोष से उत्पन्न होता है, परन्तु आत्मा में न इन्द्रिय है न संस्कार है, इसलिये जिसका कारण है ही नहीं उसका कार्य कैसे हो सकता है। और रहा व्यावहारिक ज्ञान, सो वो बद्ध अवस्था को छोड़ रहता ही

नहीं, वह बन्ध का कारण किस प्रकार हो सकता है। और पारमार्थिक ज्ञान तो मुक्ति का हेतु है वह बन्ध का कारण क्यों कर हो सकता है, अतएव ज्ञानविशेष से बन्ध नहीं होता। दूसरा गमन शरीरादि में होता है, वह जीव का स्वाभाविक धर्म होने से बन्ध का हेतु नहीं हो सकता।

तीसरा प्राप्ति, सो प्राप्त होने वाले दो पदार्थ हैं—एक ब्रह्म, दूसरी प्रकृति, सो यह दोनों व्यापक होने से जीव को सर्वदा प्राप्त, सदैव रहने वाली वस्तु से सदैव सम्बन्ध, उससे भी बद्ध नहीं हो सकता, अतएव गतिविशेष से बन्ध नहीं होता।

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—क्रिया से शून्य जड़ प्रकृति में भी गति असम्भव है और व्यापक ब्रह्म में भी गति असम्भव है, और यदि जीव की गति पर विचार किया जावे तो प्रश्न यह उपस्थित होगा, कि जीव विभु है अथवा मध्यम परिणाम वाला है अथवा अणु है? यदि विभु मान लें तो गति हो नहीं सकती। यदि मध्यम परिमाण वाला मान लें तो यह दोष होगा।

प्र०—क्या आत्मा अंगुष्ठमात्र नहीं है? यदि अंगुष्ठमात्र है तो उसमें गति इत्यादि सम्भव है। यदि विभु है तो जाना हो ही नहीं सकता?

उ०—मूर्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥ ५० ॥

अर्थ—आत्मा के मूर्तिमान् होने से घटादिकों की भांति सावयव इत्यादि दोष आ जायेंगे और सावयव होने से संयोग वियोग अर्थात् उत्पत्ति और नाश भी मानना पड़ेगा। जो कि आत्मा नित्य है, इसलिये मूर्ति वाला नहीं हो सकता और जब

मूर्त्तिवाला नहीं तो उसमें इस प्रकार की गति भी नहीं मानी जा सकती। अतएव आत्मा को मूर्त्तिवाला मानना सिद्धान्त का खण्डन करना है।

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥

अर्थ- शरीर के सब अवयवों में जो गति है अर्थात् दूसरे शरीरों में जो गमन है वह सूक्ष्म शरीर में न हो तब तक एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में नहीं जा सकता, जैसे—आकाश घट की उपाधि से चलता है, क्योंकि घट में जो आकाश है जहां घट जायगा साथ ही जायगा।

प्र०—सूक्ष्म शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—पंच प्राण, पंच उपप्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, अहंकार, इस सबके समूह का नाम सूक्ष्म शरीर है।

प्र०—क्या यह जीव से बिलकुल पृथक् है ?

उ०—हां, बिलकुल पृथक् है।

प्र०—तो पहिले-पहल जीव किस प्रकार इस शरीर को धारण करता है।

उ०—पहिले सांकल्पिक सृष्टि में आता है, फिर उसका जब सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध हो जाता है, तब दूसरे शरीरों में जाता है। यदि सम्बन्ध न हो तो नहीं जाता।

न कर्म्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—कर्म्म से भी बन्धन नहीं होता, क्योंकि वह भी शरीर सहित आत्मा में होता है और शरीर सुख दुःख भोगने से होता है। इसलिये कर्म से पहिले शरीर का होना आवश्यक

है और शरीर होने से बन्धन भी है, उसके उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं।

अतिप्रसक्तिरन्यधर्म्मत्वे ॥५३॥

अर्थ—यदि और के धर्म्म से और का बन्धन मान लें तो नियम टूट जायेंगे; क्योंकि उस अवस्था में बद्ध पुरुष के पाप से मुक्त बन्धन में आजायेंगे, जो असंगत है।

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥५४॥

अर्थ—यदि उपाधि के बिना पुरुष का बन्धन माना जावे तो जिन सूत्रों में जीव को साक्षिरूप और निर्गुण बतलाया है उनमें दोष आ जायगा; इसलिये जीव स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त है, वरन् यह दोनों औपाधिक धर्म हैं। प्रकृति के संसर्ग से बद्ध हो जाता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में जीव सुख दुःख से पृथक् और तीनों तापों से किनारे साक्षिरूप है। इस सूत्र में इति शब्द कहने से बन्धन के कारण की परीक्षा समाप्त कर दी गई।

प्र०—जब दुःख स्वाभाविक भी नहीं और नैमित्तिक भी नहीं तो प्रतीत कैसे होता है?

उ०—जीव को अल्पज्ञता और प्रकृति के संसर्ग से बन्धन की प्रतीति होती है। चूंकि संसर्ग नित्य है, इसलिये नैमित्तिक नहीं कहला सकता, और बन्ध संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अविवेक से प्रतीत होता है, इस कारण स्वाभाविक नहीं कहला सकता। अतएव अविवेक ही इसका कारण है।

प्र०—जब तुम प्रकृति के योग से बन्धन मानते हो और प्रकृति भी काल और दिशा की नाईं सर्वव्यापक है, तो उसके योग से बन्धन किस प्रकार हो सकता है।

उ०—तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥५५॥

अर्थ—प्रकृति का योग भी अविवेक से होता है, इस वास्ते यह काल और दिशा के समान नहीं।

प्र०—अविवेक किसे कहते हैं ?

उ०—यह न जानना कि यह वस्तु हमारे वास्ते लाभदायक है अथवा हानिकारक, उसको अविवेक कहते हैं।

प्र०—इस अविवेक का कारण क्या है ?

उ०—जीव की अल्पज्ञता ही अविवेक का कारण है।

प्र०—क्या वह जीव की अल्पज्ञता जीव का स्वाभाविक गुण है अथवा उसका भी कोई कारण है ?

उ०—उसका कोई कारण नहीं।

प्र०—जब अल्पज्ञता स्वाभाविक गुण है, और स्वाभाविक का नाश हो नहीं सकता, वस कारण रहा, तो कार्य-बन्धन सदैव रहेगा ?

उ०—जिस प्रकार वायु स्वभाव से उष्ण, शीत से अलग है, ऐसे ही जीव बन्धन मुक्ति से पृथक् है। यह दोनों गुण नैमित्तिक हैं, इसलिये प्रवाह से अनादि हैं, और स्वरूप से सादि होते हैं।

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥५६॥

अर्थ—जिस प्रकार मन्द अन्धकार से जो सीप में चांदी का ज्ञान या रज्जु में सर्प का ज्ञान है; उसके नाश करने का नियत उपाय है, अर्थात् प्रकाश का होना; किन्तु प्रकाश के विना किसी अन्य उपाय से यह अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार अविवेक से उत्पन्न होने वाला जो बन्धन है, उसके नष्ट करने का उपाय विवेक अर्थात् पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥५७॥

अर्थ—जीव में प्रधान अर्थात् प्रकृति के अविवेक अर्थात् पदार्थ ज्ञान के न होने से और कारण आदि से पदार्थों का अज्ञान होता है। आशय यह कि बन्धन का कारण जीव की अल्पज्ञता है, क्योंकि जीव अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता से प्रकृति का विवेक नहीं रखता, जिससे प्राकृतिक पदार्थों में मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है, और मिथ्या ज्ञान से रागद्वेष और रागद्वेष से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और उससे बन्धन अर्थात् तीन प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, और जिस समय प्रकृति का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है, तब प्रकृति के पदार्थों का अविवेक दूर होकर दुःख रूप बन्धन से छूट जाता है।

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—दुःखादि को चित्त में रहने वाला होने से उनका पुरुष में कथनमात्र ही है; जैसे—लाल डांक के लगाने से अँगूठी का हीरा लाल मालूम होता है, ऐसे जीव मन के दुःखी होने से दुःखी मालूम होता है, और मन के सुखी होने से सुखी मालूम होता है; वास्तव में सुख दुःख से पृथक् है।

प्र०—यदि इस भांति दुःख कथनमात्र ही है, तो युक्ति से भी दूर हो जायगा, उसके लिये विवेक की क्या आवश्यकता है, उसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं?

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥५६॥

अर्थ—इस केवल कथनमात्र दुःख का भी युक्ति से नाश नहीं हो सकता, बिना अपरोक्ष ज्ञान के। जैसे किसी मनुष्य को पूर्व दिशा में उत्तर का भ्रम हो जावे तो जब तक पूर्व और

उत्तर दिशा का भली-भांति ज्ञान न हो जावे, तब तक यह भ्रम जा ही नहीं सकता; इस कारण विवेक की आवश्यकता है; और सूत्र में भी दिखलाया गया है, कि जब तक दिशा का प्रत्यक्ष न हो जावे तब तक भ्रमनिवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये जब तक प्रकृति और पुरुष के धर्म का ठीक निश्चय करके प्रकृति से निवृत्ति और पुरुष की प्राप्ति न हो तब तक दुःख भी दूर न होगा।

उ०—अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥ ६० ॥

अर्थ—प्रकृति पुरुष अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति का तो प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान से ज्ञान होता है।

प्र०—क्या यह प्रकृति प्रत्यक्ष नहीं ?

उ०—नहीं, प्रत्युत जो प्रत्यक्ष है वह विकृति है, अर्थात् प्रकृति का परिणाम !

प्र०—सूत्र में तो पुरुष शब्द है तुम इससे जीवात्मा और परमात्मा किस प्रकार लेते हो ?

उ०—शरीर में रहने से जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा पुरुष शब्द से लिये गये और न्याय में आत्मा और सांख्य में पुरुष शब्द एक ही अर्थ के बतलानेवाले हैं।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥

अर्थ—सत्वगुण प्रकाश करने वाला, रजोगुण न प्रकाश और न आवरण करनेवाला, तमोगुण आवरण करने वाला जब ये तीनों गुण समान रहते हैं, उस दशा का नाम प्रकृति है; क्योंकि वर्तमान दशा में सत्वगुण, तमोगुण का परस्पर विरोध है। इस समय जिस शरीर में सत्वगुण रहता है, वहां तमोगुण का वास नहीं और इसी तरह जहां तमोगुण का निवास है वहां सत्वगुण नहीं; परन्तु कारण अर्थात् परमाणु की दशा में एक दूसरे के विरुद्ध नहीं कर सकते; उस समय पास ही पास रह सकते हैं। अब उस प्रकृति से महत्तत्व अर्थात् मन उत्पन्न होता है और मन से अहंकार और अहंकार से पंच सूक्ष्म तन्मात्रा या रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द उत्पन्न होते हैं, उनसे पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, और पंचतन्मात्राओं से पांच भूत अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश होते हैं, और जब इनसे पुरुष अर्थात् जीव और ब्रह्म मिल जाता है तो २५ गण कहलाते हैं।

प्र०—अनेक पुरुषों ने महत्तत्व का अर्थ बुद्धि किया है, तुम 'मन' किस प्रकार लेते हो?

उ०—बुद्धि जीवात्मा का गुण है। जीव के सत्य होने से वह नित्य है, वह प्रकृति का कार्य्य नहीं और मन सूक्ष्म अन्य का विकार है, अतएव मन ही लेना चाहिये।

प्र०—मन की इन्द्रियों में गणना की जाती है, अतएव भिन्न करने से बुद्धि का ही प्रयोजन प्रतीत होता है?

उ०—यदि १० इन्द्रियों में ११ वां मन भी लिया जाय तो तुम्हारी संख्या ही अशुद्ध हो जायगी, इस हेतु से महत्तत्त्व का अर्थ मन ही है।

स्थूलात् पंचतन्मात्राय ॥६२॥

अर्थ—इन पांच प्रकाशवान् तत्त्वों से उन सूक्ष्म तन्मात्रों का अनुमान होता है, जिस प्रकार कार्य्य को देख कर कारण का अनुमान होता है; जैसे लिखा है—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥६३॥

अर्थ—कार्य्य के गुणों के अनुसार कारण और कारण के अनुसार कार्य्य के गुणों का अनुमान होता है।

इसी प्रकार यहां कार्य्य तत्त्वों को देखकर कारण तन्मात्रा का ज्ञान हो जाता है।

वाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥६४॥

अर्थ—बाहर की और आभ्यन्तरीय इन्द्रियों से पञ्च तन्मात्रा रूप कार्य का ज्ञान होकर उसके कारण अहंकार का भी ज्ञान होता है, क्योंकि स्पर्शादि विषयों का ज्ञान समाधि और सुषुप्ति अवस्था में जबकि अहंकार रूप वृत्ति का अभाव होता है नहीं होता, इससे अनुमान होता है कि यह इस वृत्ति से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् अहङ्कार के कार्य्य हैं और अहंकार इनका कारण है; क्योंकि यह नियम है कि जो जिसके बिना पैदा न हो सके वह उसका कारण होता है, और भूत बिना अहंकार के सुषुप्ति अवस्था में दृष्टिगत नहीं होते, अतएव यहां उनका कारण अनुमान से प्रतीत होता है।

तेनान्तःकरणस्य ॥६५॥

अर्थ—और अहंकाररूपी कार्य्य से उसके कारण अन्तःकरण का अनुमान होता है, क्योंकि प्रथम मन में वस्तु का अस्तित्व का निश्चय करके उसमें अहंकार किया जाता है, अर्थात् उसे

अपना मानते हैं। जिस समय तक वस्तु का अस्तित्व का निश्चय न हो तब तक उसमें अभिमान नहीं होता है, अर्थात् मैं हूं, और यह मेरा है, यह ज्ञान जब तक अपने-अपने और चीज के अस्तित्व का ज्ञान न हो, किस तरह हो सकता है ?

ततः प्रकृतेः ॥६६॥

अर्थ—और उस मन से प्रकृति, जो मन का कारण है, उसका अनुमान होता है, क्योंकि मन मध्यम परिणाम वाला होने से कार्य्य है और प्रत्येक कार्य्य का कारण अवश्य होता है; अब मन का कारण प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता। क्योंकि पुरुष तो परिणाम रहित है, और मन का शरीर की तरह मध्यम परिणामवाला होना श्रुति, स्मृति और युक्ति से सिद्ध है; क्योंकि मन सुख, दुःख और मोह धर्मवाला है, इस वास्ते उसका कारण भी मोह धर्मवाला होना चाहिये। दुःख परतन्त्रता का नाम है, और पुरुष की परतन्त्रता हो नहीं सकती। परतन्त्रता केवल जड़ प्रकृति का धर्म है और उसका कार्य्य मन है।

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥६७॥

अर्थ—प्रकृति के अवयवों की संहति सर्वदा दूसरे के वास्ते होती है, अपने लिये नहीं। इससे पुरुष का अनुमान होता है; क्योंकि मन आदिक जो प्रकृति के कार्य हैं, उनसे पुरुष को लाभ होता है। मन आदिक अपने लिये कुछ भी नहीं कर सकते, और जितने शरीर से लेकर अन्न, वस्त्र, पात्रादि प्रकृति के विकार हैं, उनसे दूसरों का ही उपकार होता है, और पुरुष की क्रिया का भोग पदार्थ नहीं है; क्योंकि उपनिषद् में लिखा है "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं के उपयोगी होने से सब वस्तुएं प्यारी नहीं,

किन्तु आत्मा के उपयोगी होने से सब वस्तुएं प्यारी प्रतीत होती हैं।

प्र०—क्या प्रकृति का कोई कारण नहीं है, ब्रह्म को कारण सुना जाता है ?

उ०—ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है। प्रकृति का उपादान कारण नहीं।

प्र०—प्रकृति को क्यों अकारण मानते हो ?

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥६८॥

अर्थ—२२ तत्वों का मूल उपादान कारण प्रकृति है, और मूल अर्थात् जड़ की जड़ नहीं होती; इस वास्ते मूल बिना मूल के ही होता है।

प्र०—प्रकृति को मूल क्यों मानते हो ?

उ०—यदि मूल का मूल मानोगे, तो उसके मूल की भी आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था आ जायगी।

प्र०—जैसे घट का कारण मृत्तिका है, और मृत्तिका का कारण परमाणु है ?

उ०—पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञा-मात्रम् ॥६९॥

कारणों की परम्परा के विचार से परमाणु ही घट का कारण है, मृत्तिका तो नाममात्र है।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥७०॥

घट और मृत्तिका के साथ प्रकृति का समान सम्बन्ध है, अर्थात् परम्परा से प्रकृति ही घट और मृत्तिका का कारण है, और निरवयव होने से नित्य है, उसका कोई कारण नहीं।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥३१॥

यद्यपि प्रकृति सब का उपादान कारण है; परन्तु प्रत्येक कार्य्य में जो तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं अर्थात्※ १ उपादान, २ निमित्त और ३ साधारण– इनकी भी व्यवस्था न रहेगी, क्योंकि जब कुम्हार मिट्टी दण्डादि का कारण प्रकृति ही ठहरी, तो इन तीन कारणों की अनावश्यकता होने से बहुत गोलमाल हो जायगा। इसमें हेतु यह है, कि फिर कोई भी किसी का निमित्त व असाधारण कारण न रहेगा, अतएव जहां-जहां कारणत्व कहा जाय, वहां-वहां प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये, क्योंकि प्रकृति तो सबका कारण है ही, उसके कहने की कोई भी आवश्यकता नहीं है; जैसे—कुम्हार के पिता को घट का कारण कहना अनावश्यक है; क्योंकि वह तो अन्यथासिद्ध है। यदि वही न होता तो कुलाल कहां से आता ? परन्तु घट के बनने में कुलाल के पिता की कोई भी आवश्यकता नहीं है, ऐसा ही नवीन नैयायिक भी मानते हैं, कि कारणत्व प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये।

महदाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मनः ॥७२॥

अर्थ–प्रकृति का पहिला कार्य महत् है, और वह मन कहलाता है। मन से अहङ्कारादि उत्पन्न होते हैं, मन की उत्पत्ति ६१ सूत्र में कह चुके हैं।

चरमोऽहङ्कारः ।७३॥

अर्थ—और प्रकृति का दूसरा कार्य अहङ्कार है। इन तीनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति को कारणत्व कहा

※ १. उपादान कारण, जैसे घट का मृत्तिका। २. निमित्त कारण जैसे घट का कुलाल। ३. साधारण, जैसे घट के दण्ड आदि।

जावे, तो केवल उन्हीं दो कार्यों का कहना अन्य कार्यों का कारण महदादि को कहना चाहिए। इसी बात को अगले सूत्रों से स्पष्ट करते हैं।

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥७४॥

अर्थ—महत् और अहङ्कार को छोड़ बाकी सब प्रकृति के कार्य नहीं, किन्तु उनके कारण महदादि हैं।

प्र०—जब तुमने पहिले इसको प्रकृति का कार्य कहा, अब उसे अलग करते हो कि औरों को महदादिकों का कार्य कहना चाहिए। अब यहां यह सन्देह होता है, कि पहिले प्रकृति को सब का कारण कह चुके, अब महदादिकों को क्यों कारण कहते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि—

उ०—आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥७५॥

अर्थ—जिस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से घटादि के कारण अणु माने थे, उसी भांति परम्परा सम्बन्ध से महदादिकों का कारण भी प्रकृति ही है, अतएव कुछ दोष न रहेगा।

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥७६॥

अर्थ—पहिले होने में एक यह भी युक्ति है, कि कार्य नाश होकर कारण में मिल जाता है, और अन्त में सब कार्य पदार्थ प्रकृति में लय हो जाते हैं।

यदि कोई शङ्का करे कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों कार्य जगत् से पहले थे, तो अकेली प्रकृति को क्यों कारण माना जावे? इसका उत्तर यह है कि पुरुष परिणामी नहीं और उपादान कारण का परिणाम ही कार्य कहलाता है, और पुरुष के अपरिणामी होने में १५-१६ के सूत्र प्रमाण हैं। यदि प्रकृति-

सम्बन्ध से प्रकृति द्वारा पुरुष में परिणाम मानें और दोनों को कारण मानें तो वृथा गौरव होगा।

प्र०—कारण से उपादान-कारण का क्यों ग्रहण करते हो, निमित्त को क्यों नहीं लेते ?

उ०—उपादान-कारण के गुण ही कार्य में रहा करते हैं। हमें जगत् में जिस आनन्द की खोज है, यदि वह जगत् के कारण में होगा तो मिलेगा अन्यथा पुरुषार्थ निरर्थक जायगा; इसलिये विवेक के लिये उपादान कारण की ही आवश्यकता है।

प्र०—प्रकृति एक-देशी है या व्यापक ?

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥७७॥

उ०—एक देशी और अनित्य पदार्थ सर्व जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकते; क्योंकि अनित्य पदार्थ को कार्य होने से स्वयं कारण की आवश्यकता है।

प्र०—एकदेशी पदार्थ की उत्पत्ति में क्या प्रमाण है ?

उ०—तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥७८॥

अनित्य और एक देशी पदार्थों की उत्पत्ति श्रुति में मानी है और जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश अवश्य होगा।

प्र०—अविद्या सम्बन्ध से जगदुत्पत्ति है, इसमें क्या दोष है ? इसका उत्तर महात्मा कपिल जी यह देते हैं।

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥७९॥

उ०—जो अविद्या द्रव्य नहीं है केवल गुण मात्र है या कोई वस्तु नहीं है, उससे यह जगत् जो द्रव्य और वस्तु है, किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि गुण द्रव्य का एक अवयव होता है। एक अवयव से अवयवी की उत्पत्ति नहीं हो सकती और न

अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है; जैसे—मनुष्य के सींग नहीं तो उस सींग से कमान कैसे बन सकती है।

प्र०—यह संसार भी अवस्तु है, इसलिये यह अविद्या से बना है?

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥८०॥

प्र०—यदि कहो जगत् भी अवस्तु है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि न तो स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगत् का किसी अवस्था विशेष में बाध होता है, जैसे—स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत अवस्था में बाध हो जाता है, और न जगत् किसी इन्द्रिय के दोष से प्रतीत होता है जैसे—पीलिया रोग की अवस्था में सब वस्तुओं को पीला प्रतीत करता है परन्तु यह पीलापन सत्य नहीं। जगत् इस प्रकार के किसी दोषयुक्त कारण से उत्पन्न नहीं हुआ, इस कारण जगत् को अवस्तु नहीं कह सकते।

प्र०—जब श्रुतियों में जगत् का मिथ्या होना कहा गया है तब जगत् वस्तु नहीं हो सकता?

उ०—क्या तुम श्रुति को जगत् के अन्दर मानते हो या बाहर। यदि अन्दर मानो तो जगत् के मिथ्या होने से श्रुति का स्वयं ही बाध हो जायगा और वह मिथ्या श्रुति प्रमाण ही न रहेगी। यदि जगत् से बाहर मानो, तो अद्वैतवादी के सिद्धान्त की हानि होगी।

प्र०—"नेति नेति" इस प्रकार की श्रुतियों का क्या अर्थ करोगे?

उ०—श्रुतियें ब्रह्म का जगत् से भेद याने भिन्नता को बताने वाली हैं और जगत् को स्वरूप से अवस्तु बतलाने वाली नहीं।

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तद्भावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥ ८१ ॥

अर्थ—कारण के होने से उसके संयोग से कार्य्य बन सकता है, और कारण के अभाव में किसके योग से द्रव्यरूप कार्य बनेगा, जैसे—मिट्टी के होने से तो उसका घट बन जायगा, जब मृत्तिका नहीं तो किसका घट बनेगा ?

प्र०—तुम प्रधान अर्थात् प्रकृति को क्यों कारण मानते हो ? कर्म को मानना चाहिये ।

उ०—न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥ ८२ ॥

अर्थ—कर्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म द्रव्य तो हैं ही नहीं । द्रव्य के बिना गुणादि में उपादान कारण होने की योग्यता नहीं । कारण यह है, कि द्रव्य का उपादान कारण द्रव्य ही होता है । यदि कहो हम ऐसी कल्पना करते हैं, तो कल्पना दृष्टि के अनुसार प्रामाणिक और विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है और वैशेषिक में कहे हुए गुण और कर्म कहीं उपादान कारण होते नहीं । देखो यहां कर्म शब्द से अविद्या और गुणों को भी लेना चाहिये, वह भी उपादान के योग्य नहीं ।

यहां तक तो यह बतलाया गया कि प्रकृति में परिणाम है, परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में परिणाम नहीं । दूसरे प्रकृति के जितने कार्य्य हैं, वह दूसरे के वास्ते हैं, क्योंकि उसमें स्वयं भोग शक्ति नहीं । अब पांच सूत्रों में मुक्ति का कारण कर्म नहीं विवेक है, यह कहेंगे ।

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगाद-पुरुषार्थत्वम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—यह तो पहिले कह चुके हैं कि दृष्ट पदार्थों या कर्म से दुःखात्यन्तनिवृत्ति नहीं होती। अब कहते हैं कि ज्ञान के बिना वेदोक्त कर्म से भी मुक्ति नहीं होती; क्योंकि वैदिक कर्मों से जो स्वर्गादि सुख मिलते हैं उनका भी नाश हो जाता है, इस वास्ते यह पुरुषार्थ नहीं। पहिले "न कर्मणा अन्यधर्मत्वात" इस सूत्र में कर्म से बन्धन नहीं होता, इसका खण्डन किया गया था, अब कर्म से मुक्ति होती है इसका भी खण्डन कर दिया।

प्र०—श्रुति में बतलाया गया है कि इस प्रकार के कर्म से ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर ब्रह्मलोक की आयु तक पुनरावृत्ति नहीं होती ?

उ०—तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस श्रुति में भी प्राप्तविवेक ही के वास्ते वैदिक कर्मों से अनावृत्ति मानी गई है। यदि ऐसा न मानो तो दूसरी श्रुतियों से जो ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति का कथन करती हैं, विरोध होकर दोनों का प्रमाण नहीं रहेगा; इसलिए प्राप्त विवेक ही से मुक्ति माननी चाहिये।

दुःखाद् दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥८५॥

अर्थ—जो कर्म शरीर से उत्पन्न होता है और शरीर के न होने पर नहीं होता, इस वास्ते कर्म स्वयं दुःख रूप या अविद्या स्वरूप है। जिस प्रकार दुःख से दुःख का नाश नहीं होता, उसी प्रकार कर्म से दुःख का नाश नहीं हो सकता, जैसे—जल में नहाने से शीत बढ़ता है, नाश नहीं होता, ऐसे ही विवेक रहित कर्म से मुक्ति नहीं होती।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥८६॥

अर्थ—चाहे कर्म निष्काम हो चाहे सकाम हो, परन्तु ज्ञान के विना मुक्ति का साधन नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों प्रकार के कर्मों में साध्यत्व अर्थात् शरीर से उत्पत्ति वाला होना समान है, और श्रुति में भी लिखा है "न कर्मणा न प्रजया" इत्यादि अर्थात् न तो कर्म से मुक्ति होती, न प्रजा से, न धन से, ज्ञान के विना किसी साधन से मुक्ति नहीं होती।

प्र०—ज्ञान दुःख का विरोधी नहीं, इसलिये ज्ञान से दुःख का नाश कैसे हो सकता है?

उ०—दुःख जन्म-मरण से होता है; जन्म-मरण कर्म से होते हैं, कर्म प्रवृत्ति से होता है, प्रवृत्ति राग-द्वेष से होती है, राग-द्वेष मिथ्याज्ञान से होते हैं, ज्ञान मिथ्याज्ञान का विरोधी है, जब मिथ्याज्ञान का नाश ज्ञान से हो जायगा तब उसकी सन्तान दुःखादि उत्पन्न ही नहीं होंगे।

प्र०—जब ज्ञान को साधन मानोगे तो ज्ञान साध्य होने से भी मुक्ति दुःखरूप हो जायगी; क्योंकि ज्ञान भी तो देहस्थ आत्मा ही का होगा और ज्ञान साध्य होने से मुक्ति ऐसी ही अनित्य होगी जैसा कर्म का फल है?

उ०—निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—कर्म का फल तो भावरूप सुख है, इसलिये वह अनित्य है; परन्तु ज्ञान का फल तो अविद्या का विनाश रूप है। जब कार्याभाव रूप नहीं तो उसका नाश न होगा। दूसरे कर्म देहात्म-विशिष्ट से होता है और उसका फल भी देहात्मा मिल कर भोगते हैं, परन्तु देह विनाशी है, इसलिये कर्म का फल भी विनाशी ज्ञानात्मा का धर्म आत्मा में नित्य हो सकता है।

प्र०—क्या आत्मा निजमुक्त है ?

उ०—अविद्यादि दोषों से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसके दूर होने से जीवात्मा मुक्ति सुख को लेता है। यहां आचार्य ऋषि का यह आशय है कि स्वभाव से तो जीवात्मा बद्ध नहीं केवल अविवेक से बद्ध होता है और अविवेक के नाश से मुक्त होता है, तो मुक्ति ध्वंस अर्थात् नाशरूप है, भावरूप नहीं।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ज्ञाता और ज्ञेय के पास-पास होने से जो ज्ञान होता है, उसे प्रमा कहते हैं। इस प्रमा के साधन तीन प्रकार के प्रमाण हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमान, तीसरा शब्द। जो पदार्थ भौतिक और नजदीक है उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, और जो पदार्थ अभौतिक तथा दूर हैं, उनका शब्द और अनुमान से होता है, यहां दूर का आशय परोक्ष है। जिन पदार्थों का तीन काल में प्रत्यक्ष न हो उनका शब्द प्रमाण से बोध होता है। यहां शब्द का आशय योगी और ईश्वर की आज्ञा है। जहां भौतिक पदार्थों का परोक्ष होने में शब्द प्रमाण लिया गया है, वहां सत्य-वादी आप्त पुरुष का वाक्य समझना चाहिये।

प्र०—एक शब्द प्रमाण के दो अर्थ क्यों लिये जावें ?

उ०—शब्द कहते हैं आप्त के वाक्य को और आप्त कहते हैं जिसने धर्म से धर्मी का निश्चय किया हो, सो अभौतिक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान तो विना परमात्मा और योगी के दूसरे को हो नहीं सकता और भौतिक पदार्थों के ज्ञान के साधन इन्द्रियों के होने से आप्त पुरुष का वाक्य भी प्रमाण मानना चाहिये।

प्र०—क्या यह तीन ही प्रमाण हैं, उपमानादि नहीं ?

उ०—तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥ ८९ ॥

अर्थ—इन तीन प्रमाणों के सिद्ध होने से सब पदार्थों की सिद्धि हो जाती है. इसलिये और प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि महात्मा मनु ने भी लिखा है :—

प्रत्यक्षञ्चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के अनुकूल जान कर कार्य करना चाहिये; क्योंकि धर्म की शुद्धि की इच्छा वालों की इच्छा इनसे पूरी हो सकती है और उपमानादि प्रमाण इन्हीं के अन्दर आ जाते हैं।

यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥ ९० ॥

जिस सामने उपस्थित पदार्थ के साथ ज्ञानेन्द्रिय का सम्बन्ध हो और मन को भी उस इन्द्रिय के द्वारा उसका यथार्थ बोध हो जाय, तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान का कारण ज्ञानेन्द्रिय और मन की वृत्ति है। इसलिये मन और इन्द्रियें प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं और इनका विषय केवल प्राकृत पदार्थ ही हैं। प्रत्यक्ष से अप्राकृत पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्र०—योगियों को तीनों काल के पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो सकता है और योगी समाधि अवस्था में आत्मा और अन्दर के पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है, इस वास्ते तुम्हारा प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं ?

उ०—योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ ९१ ॥

अर्थ—यह लक्षण बाह्य प्रत्यक्ष का है और योगियों को अबाह्य प्रत्यक्ष भी होता है, इसलिये योगियों का प्रत्यक्ष बाह्य रूप न होने से दोष नहीं। इसके लिये और युक्ति देते हैं।

लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९२ ॥

योगी लोग ऐसी वस्तु का जो दूर हो अथवा दूसरे के चित्त में हो उसके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं, इस वास्ते योगियों के ऐसे प्रत्यक्ष में दोष नहीं आता।

प्र०—योगियों का ऐसा प्रत्यक्ष क्यों माना जावे ? क्योंकि वह साध्य अर्थात् प्रमाण की आवश्यकता रखता है, इसलिये इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ का ही प्रत्यक्ष मानना चाहिये और अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रत्यक्ष न कहना चाहिये।

उ०—मन के इन्द्रिय होने से मानसिक प्रत्यक्ष भी मानना चाहिये, इसलिये मानसिक प्रत्यक्ष जो योगियों को होता है वह सिद्ध है साध्य नहीं।

प्र०—प्रमाण वह होता है जो सबके लिये एक सम हो, जो प्रत्यक्ष योगियों को हो अन्य पुरुषों को न हो, उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ?

उ०—इन्द्रियों के विकारी होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी को भी नहीं होता, जैसे—अन्धे को रूप का ज्ञान, बहिरे को शब्द-ज्ञान इत्यादि।

प्र०—क्या सब के मन में दोष है जो मानसिक प्रत्यक्ष नहीं होता ?

उ०—जिसके मन में मल, विक्षेप, आवरण, तीन दोष हों उसे मानसिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जैसे—दर्पण से अपनी आंख देख सकते हैं, परन्तु दर्पण के मैला तथा स्थिर न होने अथवा कोई आवरण होने से नहीं देख सकते। जैसे—गंगा में यह शक्ति

है कि वह बड़े-बड़े मकानों को बहा ले जाय, परन्तु यदि उसी गंगा को छोटी-छोटी नालियों में विभक्त कर दिया जाय तो एक ईंट को भी नहीं बहा सकती। इसी प्रकार मन सूक्ष्म पदार्थों को जान सकता है, परन्तु विक्षिप्त वृत्ति होने से उसकी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है।

प्र०—इन्द्रियों के प्रत्यक्ष मानने और मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने में क्या दोष होगा?

उ०—ईश्वरासिद्धेः ॥ ६३ ॥

मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने से ईश्वर की सिद्धि न होगी क्योंकि रूप न होने से वह चक्षु का विषय नहीं; सुगन्ध न होने से वह नासिका का विषय नहीं; रस न होने से वह रसना का विषय नहीं। जब ईश्वर का प्रत्यक्ष न हुआ तो अनुमान भी न होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। जिसका तीन काल में प्रत्यक्ष न हो उसमें अनुमान हो नहीं सकता और शब्द प्रमाण से भी काम न चलेगा; क्योंकि वेद के ईश्वर-वाक्य होने से वेद को प्रमाण मानते हैं। जब ईश्वर स्वयं असिद्ध होगा तो उसका वाक्य वेद कैसे प्रमाण माना जायगा? यहां अन्योन्याश्रय दोष है, क्योंकि ईश्वर की सिद्धि बिना, वेद का प्रमाण हो नहीं सकती, और वेद के बिना ईश्वर-वाक्य सिद्ध हुए प्रमाण ही नहीं हो सकता।

प्र०—अनुमान क्यों नहीं होगा। क्योंकि कार्य को देख कर कारण का अनुमान से ज्ञान हो सकता है। ऐसे ही सृष्टि को प्रत्यक्ष देखकर उसके कारण का अनुमान कर लेंगे?

उ०—अनुमान का होना व्याप्ति के अधीन है, और व्याप्ति प्रत्यक्ष के अधीन है। जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण से नियत कारण कार्य का सम्बन्ध ज्ञान न हो जाय, तब तक व्याप्ति नहीं हो

सकती, और जब तक व्याप्ति न हो तब तक अनुमान नहीं हो सकता। जैसे--जब बादल होता है, तभी वृष्टि होती है, बिना बादल के कभी वृष्टि नहीं होती देखी; इसलिये जिसका तीन काल में प्रत्यक्ष न हो उसका अनुमान से ज्ञान नहीं हो सकता।

प्र०—हम नियम-पूर्वक कार्य को बिना चेतन कर्ता के नहीं देखते, इससे हम नियमित कार्य से चेतन का अनुमान करते हैं। यह जगत भी परिणामी होने से कार्य, और नियम-पूर्वक होने से अपने चेतन कारण के अनुमान का साधक होगा ?

उ०—मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९४ ॥

अर्थ—संसार में कोई चेतन मुक्त और बद्ध से भिन्न नहीं। यदि तुम ईश्वर को बद्ध मानो तो वह सृष्टि करने की शक्ति नहीं रखता। यदि मुक्त मानो तो इच्छा के अभाव से सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि संसार में जितनी सृष्टि को नियमित देखते हैं, वह कर्ता की इच्छा से होती है।

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥ ९५ ॥

इस प्रकार मुक्त, बद्ध दोनों प्रकार के चेतन से सृष्टि का होना अनुमान से सिद्ध न होगा। इसलिये मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य मानना पड़ेगा। ईश्वर योगियों को समाधि अवस्था में प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि स्थिर मन के बिना ईश्वर का बोधक कोई प्रमाण नहीं। ईश्वर को बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार का नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों सापेक्ष हैं, अर्थात् जो पहिले बंधा हो, वह ही बंध के छूटने से मुक्त कहला सकता है। ईश्वर इन दोनों अवस्थाओं से पृथक् है। जगत् का करना उसका स्वभाव है, इसलिये इच्छा की आवश्यकता नहीं।

प्र०—एक वस्तु में दो विरुद्ध स्वभाव हो नहीं सकते। यदि रचना ईश्वर का स्वभाव मानोगे तो विनाश किसका स्वभाव मानोगे ?

उ०—यह शङ्का परतन्त्र और अचेतन में हो सकती है, क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होता है, और स्वतन्त्र उसे कहते हैं, जिसमें करने, न करने और उल्टा करने की सामर्थ्य हो।

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥ ९६ ॥

उपासना के सिद्ध होने से जो मुक्तात्मा की प्रशंसा की जाती है, इससे प्रतीत होता है, कि ईश्वर है, जिसकी उपासना से अविवेक की निवृत्ति और विवेक की प्राप्ति होकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है।

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ९७ ॥

प्रकृति क्रिया रहित है। उसको क्रिया शक्ति ईश्वर की समीपता से प्राप्त होती है, जैसे—मणि को कांच की समीपता से सुरखी प्राप्त होती है; परमात्मा में इच्छा के न होने से उसे अकर्त्ता कहा जाता है; और बिना उसकी समीपता के प्रकृति करने में असमर्थ है, जैसे—बिना हाथ के जीव उठा नहीं सकता, इस वास्ते कहते हैं, उठाना जीव का धर्म नहीं, परन्तु हाथ में जीव के बिना क्रिया शक्ति नहीं। इस वास्ते जीवात्मा को कर्ता माना जाता है।

विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९८ ॥

जो कार्य सामान्यरूप से जगत् में होते हैं; वह तो परमात्मा की सत्ता से होते हैं, और जो कार्य विशेष रूप से प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न होते हैं, वे जीव की सत्ता से होते हैं। संसार के आत्मा को परमात्मा और शरीर के आत्मा को जीवात्मा कहते हैं।

प्र०—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से या और प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि हो गई, तो वेद का क्या प्रमाण माना जाय ? क्योंकि भौतिक पदार्थों का तो प्रत्यक्ष से ज्ञान हो ही जायगा, और अभौतिक का योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष से हो जायगा।

उ०—सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९९ ॥

अर्थ—अन्य प्रमाणों से ईश्वर के होने की तो सिद्धि हो जायगी, परन्तु उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, जैसे—पुत्र को देख कर उसके पिता के होने का ज्ञान तो अनुमान से हो सकता है, परन्तु उसके रूप और आयु आदि के ज्ञान के वास्ते शब्द की आवश्यकता है। इस वास्ते वेद का अवश्य प्रमाण मानना चाहिये।

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ १०० ॥

अन्तःकरण भी चैतन्य के संयोग से उज्ज्वलित (प्रकाशित) है, अतएव संकल्प विकल्पादि कार्यों का अधिष्ठातृत्व अन्तःकरण को है, जैसे—अग्नि से तपाये हुए लोहे में यद्यपि दाहशक्ति अग्नि संयोग के कारण है तथापि अन्य पदार्थों के दाह करने को वह लोहशक्ति भी हेतु हो सकती है।

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०१ ॥

जो इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ नहीं दीखता, उसके ज्ञान के साधन को अनुमान कहते हैं; जैसे—अग्नि प्रत्यक्ष नहीं दीखती, किन्तु धूम को देख कर उसका ज्ञान हो जाना, इसी का नाम अनुमान है। यह अनुमान व्याप्ति और साहचर्य नियम के ज्ञान बिना नहीं होता; जैसे—जब तक कोई पुरुष पाकशाला आदि में धूम और

अग्नि की व्याप्ति न समझ लेगा कि जहां जहां धूम होता है, वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है, तब तक धूम को देख कर अग्नि का अनुमान कदापि नहीं कर सकता। वह अनुमान कितने प्रकार का है, इसका निर्णय आगे करेंगे। किन्तु प्रथम शब्द प्रमाण का लक्षण करते हैं।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १०२ ॥

यह सूत्र सब शास्त्रों में ऐसा ही है। जैसे तीनों वेदों में गायत्री मन्त्र एक सम है, इसी भांति इस सूत्र को भी जानना चाहिये। जो पुरुष धर्मिनिष्ठ बाह्य धर्म से धर्मी के ज्ञान को यथार्थ रीति पर जानते हैं, तथा शुद्ध आचरणवान् हैं, उनका नाम आप्त है। उनके उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्ति का अर्थ योग्यता है, इस कारण तत्त्वज्ञान से युक्त अपौरुष-वाक्य वेद ही शब्द प्रमाण जानना चाहिये। अब अगले सूत्र से प्रमाण मानने की आवश्यकता को प्रकट करते हैं।

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ॥ १०३ ॥

जब तक मनुष्य को वस्तु का सामान्य ज्ञान हो, परन्तु यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक वह संशय कहाता है। संशय की निवृत्ति बिना प्रमाण के हो नहीं सकती और संशय की निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रमाण से आत्म, अनात्म, सद्, असद्, दोनों प्रकार की सिद्धि होती है, इसी कारण प्रमाण का उपदेश किया है।

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०४ ॥

तीन प्रकार के अनुमान होते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं, जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, क्योंकि पहले पाक-

शाला में धूम और अग्नि दोनों देखे थे, वैसे ही अन्यत्र होंगे, इस प्रकार का अनुमान पूर्ववत् कहाता है। जो विषय कभी प्रत्यक्ष नहीं किया उसका कारण द्वारा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहाता है, जैसे—स्त्री और पुरुष दोनों को नीरोग और हृष्ट-पुष्ट देख कर इनके पुत्रोत्पत्ति होगी यह अनुमान करना, वा मेघ को देख कर जल बरसेगा, यह अनुमान करना शेषवत् का उदाहरण है। जिस जातीय विषय को प्रत्यक्ष कर लिया है, उसके द्वारा समस्त जाति मात्र के कार्य्य का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहाता है; जैसे - दो-एक मनुष्य को देख कर यह बात निश्चय कर ली कि मनुष्य के सींग नहीं होते, तो अन्य मनुष्यमात्र के सींग न होंगे। यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है। इसी भांति सामान्यतोदृष्ट अनुमान में यह बात भी आ सकती है; कि जैसे बिना कारण के कार्य्य की अनुत्पत्ति सामान्यतोदृष्ट है। इससे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जहां-जहां कार्य्य होगा, वहां-वहां कारण भी अवश्य होगा।

चिद्वसानो भोगः ॥ १०५ ॥

चैतन्यता का जो अवसान अर्थात् अभाव है, उस भोग कहते हैं। यहां पर महर्षि भोक्ता और भोग को पृथक्-पृथक् करते हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ भोग होते और चैतन्य भोक्ता होता है, तथा भोग सदा परिणामी होता है, और भोक्ता एकरस और चैतन्य होता है।

प्र०—क्या जड़, मन और इन्द्रियां भोक्ता नहीं ?

उ०—नहीं, यह तो भोग के साधन हैं।

प्र०—कर्म तो मन और इन्द्रियां करते हैं तो अकर्ता जीवात्मा उसका फल क्यों भोगता है ?

उ०—अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥१०६॥

जिस प्रकार किसानों के उत्पन्न किये अन्नादि का भोग राजा करता है और सेना के हार जाने से राजा को दुःख होता है, इसी प्रकार इन्द्रियों के किये कर्मों का फल आत्मा भोगता है।

प्र०—पहिले मान चुके हो—अन्य के कर्म से दूसरे का बन्धन नहीं होता, अब कहते हो दूसरे का किया दूसरा भोगता है?

उ०—स्वतन्त्र कर्ता होता है। स्वतन्त्र के किये का फल स्वतन्त्र को नहीं मिलता। यह इन्द्रियें और मन स्वतन्त्र नहीं, किन्तु आत्मा के करने के साधन हैं, जैसे—खड्ग से काटने का कर्ता मनुष्य कहलाता है, ऐसे ही इन्द्रियों के कर्मों का फल जीव को होता है।

प्र०—चैतन्य जीवात्मा को दुःखादि विकार कैसे हो सकता है?

उ०—अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः ॥१०७॥

कर्ता को फल अविवेक से होता है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान बिना नैमित्तिक ज्ञान के नहीं रहता, इसलिये वह अविवेक से शरीरादि के विकारों को अपने में मानता है, जिससे उसे दुःख-सुख प्रतीत होते हैं जैसे—संसार में लोग प्राकृत धन को अपना मानकर उसके नाश से दुःख मानते हैं, ऐसे ही अविवेक से शरीरनिष्ठ विकारों से जीव अपने को दुःखी-सुखी अनुभव करता है।

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥१०८॥

जब पुरुष प्रमाणों से यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, तो सुख दुःख दोनों नहीं रहते; क्योंकि जब हमें यह निश्चय हो जाता है, हम शरीर नहीं और न यह शरीर हमारा है, किन्तु

प्रकृति का विकार है, तो इसके दुःख सुख का हमें लेश भी नहीं प्रतीत होता।

प्र०—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राकृतिक ज्ञान नहीं होता, इसलिये प्रकृति असिद्ध है; क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं ?

उ०—विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥ १०९ ॥

इन्द्रियों के विषय अति दूरादि कारणों से अविषय हो जाते हैं, इस वास्ते किसी इन्द्रिय का विषय न होने से प्रकृति की असिद्धि नहीं हो सकती है, जैसे—अभी एक मनुष्य था, परन्तु थोड़े काल में दूर चला गया, अब वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं रहा।

प्र०—कितने कारण हैं जिनसे वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता ?

उ०—अति दूर होने से, अति समीप होने से, इन्द्रिय के बिगड़ जाने से, मन के अस्थिर होने या मन के दूसरे काम में लगे होने से, अति सूक्ष्म होने से, बीच में परदा होने से इत्यादि और भी कई कारणों से प्रत्यक्ष का विषय अविषय होता है, इसलिए किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने से उसकी असिद्धि नहीं हो सकती।

प्र०—प्रकृति का प्रत्यक्ष न होने में क्या कारण है ?

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ ११० ॥

उ०—प्रकृति और पुरुष का, सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, सूक्ष्म होने से अत्यन्त अणु होना अभिप्राय नहीं; क्योंकि प्रकृति और पुरुष सर्वत्र व्यापक हैं, इनका प्रत्यक्ष योगियों को ही होता है।

प्र०—प्रकृति के प्रत्यक्ष न होने से यह क्यों माना जावे, कि अति सूक्ष्म होने से प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु प्रकृति का

अभाव ही मानना चाहिये, नहीं तो शशशृङ्ग की अप्रतीति भी सूक्ष्म होने से माननी पड़ेगी ?

कार्य्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥ १११ ॥

उ० — संसार में प्रकृति के कार्यों को देखने से प्रकृति का होना सिद्ध होता है; क्योंकि कार्य्य को देखने से कारण का अनुमान होता है, और इन कार्य्यों को बिगाड़कर सूक्ष्म होकर कारण में लय होने से कारण की सूक्ष्मता का अनुमान होता है।

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥ ११२ ॥

यदि संसार में वादी लोग प्रकृति की असिद्धि में यह हेतु दें कि कोई ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं, कोई परमाणुओं को, कोई जगत् को अनुत्पन्न ही मानते हैं, तो इस जगत्-रूप कार्य्य से प्रकृति के अनुमान करने में क्या हेतु है ? प्रथम तो जगत् का कार्य्य होना साध्य है, दूसरे कारण ब्रह्म है, या प्रकृति यह संशयात्मक है, इसलिये प्रकृति असिद्ध है।

तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥ ११३ ॥

जब एक कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है और कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है, तो प्रकृति को कारण सिद्ध मानना अनुचित नहीं, क्योंकि सब कार्य प्रकृति में लय होते हैं। द्वितीय पुरुष जो अपरिणामी उसको, परिणामी प्रकृति के अविवेक से बन्ध और विवेक से मुक्ति होती है।

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११४ ॥

सब कार्य तीन प्रकार के होते हैं—अतीत अर्थात् गुजरा हुआ, दूसरे वर्तमान, तीसरे आने वाला। यदि कार्य को सत् न मानें तो यह तीन प्रकार का व्यवहार-जैसे घट टूट गया, अथवा

घट वर्तमान है. अथवा घट होगा, नहीं बन सकेगा। दूसरे दु:ख सुख मोहादि की उत्पत्ति में विरोध होगा; क्योंकि ब्रह्म तो आनन्दस्वरूप होने से दु:खादि से शून्य है, और परमाणु और प्रकृति में नाममात्र भेद है इसलिये प्रकृति जगत् का कारण सिद्ध है, अगले सूत्र में इसे और भी पुष्ट करते हैं—

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ॥ ११५ ॥

असत् किसी वस्तु का कारण नहीं हो सकता, जैसे—मनुष्य के सींग नहीं, इसलिये संसार में उसका कोई कार्य भी प्रतीत नहीं होता, न उससे कोई कुछ बना सकता है।

उपादाननियमात् ॥ ११६ ॥

संसार में सब वस्तुओं का उपादान नियत है, जैसे—मृत्तिका से घट तो बन सकता है परन्तु पट नहीं बन सकता, या लोहे से तलवार बन सकती है, रुई से नहीं बन सकती; जल से बर्फ बनती है, घी से नहीं बनती, इसी प्रकार सब पदार्थों के उपादान कारण नियत हैं, नियमित कार्य-कारण भाव के सत् होने से कार्य को भी सत् मानना पड़ेगा।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥ ११७ ॥

यह कथन सर्वथा असम्भव है, क्योंकि संसार में ऐसे वाक्यों का साधक कोई भी दृष्टान्तादिक नहीं दीखता कि (असत: सज्जायते) अर्थात् असत् से सत् होता है। अत: मानना पड़ेगा कि (सत: सज्जायते) अर्थात् सत् से सत् ही उत्पन्न होता है।

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥ ११८ ॥

कार्य में कारण का शक्तिमत्त्व होना ही उपादान कारण होता है, क्योंकि जिस कारण द्रव्य में जो कार्यशक्ति वर्तमान ही नहीं

है, उससे अभिलषित कार्य कदापि नहीं हो सकता; जैसे कि कृष्ण रंग से श्वेत रंग कदापि नहीं हो सकता। अब इससे यथार्थ सिद्ध हो गया कि जैसे कृष्ण रंग से श्वेत रंग उत्पन्न नहीं हो सकता, इसी प्रकार असत् से सत् भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

कारणभावाच्च ॥ ११९ ॥

उत्पत्ति से पहिले ही कार्य का कारण से भेद नहीं है, क्योंकि कार्य कारण के भीतर ही सदैव रहता है, जैसे कि तेल तिलों के भीतर रहता है।

न भावे भावयोगश्चेत् ॥ १२० ॥

अब इसमें प्रश्न पैदा होता है कि कार्य तो नित्य है तो भावरूप 'सत्' कार्य में भावरूप उत्पत्तियोग नहीं हो सकता, असत् से सत् की उत्पत्ति के व्यवहार होने से। अब इस विषय में सांख्य के आचार्य अपने मत को प्रकाश करते हैं।

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ॥ १२१ ॥

अब यहां पर सन्देह होता है कि यद्यपि उत्पत्ति से पहिले सत् कार्य की किसी प्रकार उत्पत्ति हो, परन्तु जब कार्य सत्ता अनादि है, तो उसका नाश क्यों हो सके। इसका उत्तर यह है, कि कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार और अव्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तक है, अर्थात् अभिव्यक्ति के भाव से कार्य की उत्पत्ति होती है। अभिव्यक्ति के अभाव से उत्पत्ति का अभाव है। जो पूर्व यह शंका की थी, कि यदि कारण में कार्य रहता है, तो अमुक कार्य उत्पन्न हुआ, ऐसा कहना भी नहीं हो सकता। उसके ही उत्तर में यह सूत्र है. कि अभिव्यज्यमान कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तक है। पूर्व जो कार्य असत् नहीं वा उसकी अब उत्पत्ति हुई यह कथन ठीक नहीं है।

नाशः कारणलयः ॥ १२२ ॥

"लीङ्" श्लेषणे धातु से लय शब्द बनता है। अति सूक्ष्मता के साथ कार्य का कारण में मिल जाना, इसी का नाम नाश है। कार्य की व्यतीत अवस्था अर्थात् जो अवस्था कार्य की उत्पत्ति से पूर्व थी, उसी को धारण कर लेना और जो नाश भविष्यत् में होने वाला है, उसी का नाम प्रागभाव नामक नाश है। कोई-कोई यह कहते हैं कि जो वस्तु नाश हो जाती है उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं होती, परन्तु यह कहना सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इस कथन से प्रत्यभिज्ञा में दोष होगा, अर्थात् जिस पदार्थ को दो वर्ष पहले देखा था, उसको ही इस समय देखने से यह ज्ञान होता है कि जो पदार्थ पहिले देखा था उसी को इस समय देखता हूँ। इस ज्ञान में यह दोष होगा कि जो ज्ञान पूर्व हुआ था वह इतने दिन तक नष्ट रहा और फिर भी समयानुसार उत्पन्न हो गया। यदि नष्ट हुए कार्य की दूसरी बार अनुत्पत्ति ही ठीक होती तो इसमें अनुत्पत्ति का लक्षण भी पाया जाता। अतएव यही कहना ठीक है कि नाश को प्राप्त कार्य फिर भी उत्पन्न हो सकता है। अब यह सन्देह होता है कि यदि पहिले कहा हुआ ही पक्ष ठीक है, तो अपने कारण में कार्य का नाश होता क्यों नहीं दीखता, जैसे—तन्तु कपास से पैदा होते हैं, परन्तु नाश के समय वह मिट्टी में मिल जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि कार्य का कारण में लय हो जाना विवेकी पुरुषों को दीखता है और अविवेकियों को नहीं दीखता, जैसे—तन्तु मिट्टी के रूप हो जाते हैं और मिट्टी कपास के वृक्षरूप हो जाती है और वह वृक्ष फूल, फल, कपास आदि रूप से परिणाम को प्राप्त होता है और जब कार्य का नाम और उसी के समान कुछ बदला हुआ रूप संसार में मौजूद है, तब नाश, ऐसा कहना भी योग्य नहीं। यही सिद्धान्त महाभाष्यकार महर्षि

पतञ्जलि जी का भी है, कि आकृति नित्य है। अब यहां यह सन्देह होता है कि अभिव्यक्ति कार्य की उत्पत्ति के पूर्व भी थी कि नहीं थी ? यदि थी तो कारण के यत्न से पूर्व अभिव्यक्ति को स्वकार्य-जनकता दोष होगा और उत्पत्ति के लिये जो कारण द्वारा यत्न किया जाता है वह व्यर्थ होगा। यदि कार्य की उत्पत्ति से पहिले अभिव्यक्ति नहीं थी तो सत्कार्य पक्ष में हानि होगी; क्योंकि जब यह कह चुके हैं कि जो कार्य पूर्व था, उसी की इस समय उत्पत्ति होती है, किन्तु असत् की उत्पत्ति नहीं होती तो अभिव्यक्ति का पूर्व में अभाव कहने में दोष होगा। यदि यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति तो पूर्व भी थी लेकिन एक अभिव्यक्ति से दूसरी अभिव्यक्ति कारण द्वारा होती जाती है, इसीलिये कारण व्यापार है, ऐसा कहने पर अनवस्था दोष होगा; क्योंकि एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, इसी तरह कहते जाओ, लेकिन कहीं भी विश्राम नहीं हो सकता, इस कारण यह अनवस्था दोष हो गया। इन पूर्व कहे दोषों के उत्तर यह हैं—प्रथम तो कारण व्यापार से सब कार्यों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार पूर्वोक्त शंका ही नहीं हो सकती। दूसरे यदि यह मान भी लिया जाय कि अभिव्यक्ति पहिले नहीं थी, तो भी कारण व्यापार द्वारा उसकी सत्ता प्रकाश करने के वास्ते सदैव आवश्यक है, तब कोई दोष नहीं हो सकता। तीसरे यह भी है कि जब कार्य्य की अनागत अवस्था में (जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हुआ) सत्कार्यवाद की कोई हानि नहीं हो सकती, तब दोष भी नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक घट पैदा ही नहीं हुआ, उससे पहिले भी सत् कार्य्यवादी मिट्टी में घट को मानते हैं, इसी प्रकार अभिव्यक्ति को भी समझना चाहिये। यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि कार्य का प्रागभाव "पहिले न होना" ही नहीं मानते तो घट पहिले नहीं था, किन्तु अब पैदा हुआ है, ऐसा कहना भी नहीं बन सकता। इसका उत्तर यह है, कि कार्य की अवस्थाओं का

ही भाव अभाव कहते हैं न कि कार्य का और जो अनवस्था दोष दिया उसका उत्तर यह है :—

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत् ॥ १२३ ॥

बीज और अंकुर के समान अर्थात् जब विचार किया जाता है कि पहिले बीज था या वृक्ष, इस विषय में परम्परा मानी गई है। इसी तरह अभिव्यक्ति मानी गई है सिर्फ भेद इतना ही है, कि उसमें क्रमिक परम्परा दोष उत्पन्न होता है. अर्थात् पहिले कौन था और इसमें एक-कालिक एक ही समय में एक का दूसरे से उत्पन्न होना यह दोष होगा, लेकिन यह दोष इस कारण माना जाता है कि पातञ्जलभाष्य में भी व्यास जी ने कार्यों को स्वरूप में नित्य और अवस्थाओं से विनाशी माना है, वहां अनवस्था दोष को प्रामाणिक माना है। यह बीजांकुर का दृष्टान्त केवल लौकिक है, वास्तव में यहां जन्म और कर्म का दृष्टान्त दिया जाता तो श्रेष्ठ था; जैसे—जन्म से कर्म होता है या कर्म से जन्म, क्योंकि बीजांकुर के झगड़े में कोई-कोई आदि सर्ग में वृक्ष के बिना ही बीज की उत्पत्ति मानते हैं, वास्तव में अवस्था कोई वस्तु नहीं है, इसको कहते हैं :—

उत्पत्तिवद्वादोषः ॥ १२४ ॥

जैसे कि घट की उत्पत्ति के स्वरूप को ही वैशेषिकादि असतकार्यवादी कमी के सबब मानते हैं, अर्थात् यह उत्पत्ति किससे उत्पन्न हुई, ऐसा सन्देह नहीं करते, केवल एक ही उत्पत्ति को मानते हैं। इसी तरह अभिव्यक्ति की उत्पत्ति किससे हुई यह विवाद नहीं करना चाहिये। केवल अभिव्यक्ति को ही मानना चाहिये। सत् कार्यवादी और असतकार्यवादी इन दोनों में केवल इतना ही भेद है, कि असत्कार्यवादी कार्य उत्पत्ति की

पूर्व दशा को प्रागभाव और कार्य के कारण में लय हो जाने को ध्वंस कहते हैं, और इन दोनों अवस्थाओं में कार्य का अभाव मानते हैं. और इसी प्रकार सत्कार्यवादी कही हुई दोनों अवस्थाओं को अनागत और अतीत कहते हैं, तथा उन अवस्थाओं में कार्य का भाव मानते हैं, कार्य से कारण का अनुमान कर लेना चाहिये।

प्र०---किस-किस को कार्य कहते हैं ?

उ०—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥ १२५ ॥

हेतुमान् अर्थात् कारणवाला, अनित्य अर्थात् हमेशा एकसा जो न रहे, अव्यापि अर्थात् एक देश में रहने वाला, सक्रिय—क्रिया की अपेक्षा वाला, अनेक जिसके अलग-अलग भेद मालूम होवें, आश्रित कारण के अधीन इसको लिङ्ग अर्थात् कार्य के पहिचानने का चिह्न कहते हैं।

प्र०—जिसमें हेतुमत्त्वादिक होते हैं वही प्रधान के लिङ्ग कहे जाते हैं ?

उ०—तुम्हारा यह कहना सर्वथा असंगत है। क्योंकि प्रथम तो इस सूत्र में वा पूर्व सूत्र में प्रधान का नाम ही नहीं है, दूसरे सांख्यकार ने प्रधान शब्द को रूढ़ि नहीं माना, इसी कारण इसको पुरुषवाचक भी कह सकते हैं, किन्तु प्रकृतिवाचक है। तीसरे यदि उनके तात्पर्यानुसार (मतलब के माफिक) यह लिङ्ग पुरुष के ही मान लिये जावें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सांख्यकार के मत में कार्यमात्र की उत्पत्ति प्रकृति से है, एवं प्रकृति और पुरुष का भेद भी माना है. एवं परस्परानपेक्षा भी कपिलाचार्य का सिद्धान्त है, तो प्रकृति से पुरुष का अनुमान नहीं हो सकता। हेतुमत्त्वादि

विशेषण देने से कार्य कारण में भेद मालूम होता है, इसी कारण उस भेद की प्रतीति में प्रमाण देते हैं :—

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥ १२६ ॥

अर्थ—आञ्जस्य (प्रत्यक्ष) से, वा कारण सामान्य गुण कार्य में पाये जाते हैं। विशेष गुणों में भेद रहता है, इससे प्रधान व्यपदेश से अर्थात यह कारण है, यह कार्य है। इस लौकिक व्यवहार से कार्य कारण भेद की सिद्धि होती है।

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥ १२७ ॥

अब कार्य कारण का भेद कह कर कार्य कारण के साधर्म्य अर्थात बराबरीपन कहते हैं—कि सत्त्व, रज, तम यह तीनों गुण अचेतनत्वादि धर्म दोनों के समान ही हैं, आदि शब्द से परिणामित्वादि का ग्रहण होता है।

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम् ॥१२८॥

अर्थ—अब कार्य कारण का परस्पर (आपस में) वैधर्म्य कहते हैं। सत्व, रज, तम, इन गुणों का सुख दुःख मोह इनमें अन्योऽन्य वैधर्म्य (एक ही कारण से अनेक-अनेक प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होना) दिखाई पड़ता है। इस सूत्र में आदि शब्द से जिनका ग्रहण होता है, उनका वर्णन पञ्चशिखाचार्य ने इस प्रकार किया है कि सत्त्वगुण से प्रीति, तितिक्षा, सन्तोष आदि सुखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं इस ही रीति से रजोगुण से अप्रीति शोक आदि दुःखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं, एवं तम से विषाद, निद्रा (नींद) आदि मोहात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले ।र्य

पैदा होते हैं। घटरूप कार्य में केवल मिट्टी से रूपमात्र का ही वैधर्म्य है।

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यवैधर्म्यांश्च गुणानाम् ॥ १२९ ॥

अर्थ—लघुत्वादि धर्मों से सत्वादि गुणों का साधर्म्य और वैधर्म्य है; जैसे लघुत्व के साथ सर्व सत्वव्यक्तियों का (सतोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, रज और तम का वैधर्म्य है, एवं चंचलत्वादि के साथ रजोव्यक्तियों का (रजोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, और सत्व तम का वैधर्म्य है, इस ही प्रकार गुरुत्व आदि के साथ तमोव्यक्तियों का (तमोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है, और सत्व; रज से वैधर्म्य है।

प्र०—यद्यपि महदादि स्वरूप से सिद्ध हैं तो भी प्रत्यक्ष से उनकी उत्पत्ति नहीं दीखती, इसी कारण महदादिकों के कार्य होने में कोई भी प्रमाण नहीं ?

उ०—उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटा-दिवत् ॥ १३० ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से महदादिक और ही हैं, इस सबब उन्हें कार्य मानना चाहिये, जैसे—घट मट्टी से अलग है इसी सबब कार्य है, क्योंकि मट्टी कहने से न तो घट का बोध होता है, और न घट कहने से मिट्टी का ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष कहने से महदादिकों का भी ज्ञान नहीं होता। इस कारण महदादिकों को प्रकृति और पुरुष से भिन्न कार्य मानना चाहिये; क्योंकि प्रकृति और पुरुष कारण हैं, किन्तु कार्य नहीं हैं।

परिमाणात् ॥१३१॥

अर्थ—प्रकृति पुरुष परिमित भाव से रहते हैं, कभी घटते बढ़ते नहीं। इसी सबब उनको कार्य नहीं कह सकते, क्योंकि—

समन्वयात् । १३२ ॥

अर्थ—मन को आदि लेके जोकि महदादिकों के अवान्तर भेद हैं, सो अन्नादिकों के मिलने से बढ़ते रहते हैं, और भूखे रहने से क्षीण होते हैं। इस पूर्वोक्त समन्वय से भी महदादिकों का कार्यत्व मालूम होता है; क्योंकि जो नित्य पदार्थ होता है वह अवयव (टुकड़ा) रहित होता है, अतः उसका घटना-चढ़ना नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि घटना-बढ़ना आदि कार्य में हो सकता है कारण में नहीं हो सकता। मन आदि अन्न के मिलने से बढ़ते हैं, और न मिलने से घटते हैं। इसी से महदादिकों का कार्यत्व सिद्ध होता है।

शक्तितश्चेति ॥ १३३ ॥

अर्थ—महदादिक पुरुष के कारण हैं, इसी में महदादिकों को कार्यत्व है, क्योंकि इनके बिना पुरुष कुछ नहीं कर सकता, जैसे कि नेत्रों के बिना पुरुष कुछ नहीं कर सकता, अर्थात् देख नहीं सकता, और पुरुष के बिना नेत्र में देखने की शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नेत्र तो जड़ हैं, इस कारण मनुष्य दर्शन रूप क्रिया को नेत्ररूपी कारण के बिना नहीं कर सकता, इस ही सबब से नेत्रादिकों को कार्यत्व माना है। इस सूत्र में इति शब्द से यह जानना चाहिये कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में इतने ही प्रमाण होते हैं।

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥ १३४ ॥

अर्थ—महदादिकों को कार्य नहीं मानें महत्तत्व को प्रकृति वा पुरुष इन दोनों में से एक अवश्य माना जायगा; क्योंकि जो महदादि परिणामी हों तो प्रकृति, और महदादि अपरिणामी हों तो पुरुष मानना पड़ेगा।

प्र०—प्रकृति और पुरुष से भिन्न अर्थात् दूसरा और कोई पदार्थ मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उ० — तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—हां ! हानि है, तुच्छत्व दोष की प्राप्ति होती है, क्योंकि लोक में प्रकृति और पुरुष के सिवाय अन्य को अवस्तु माना है अर्थात् प्रकृति और पुरुष यह दो ही वस्तु हैं और सब अवस्तु हैं; अतएव इसको प्रकृति का कार्य मानना चाहिये। यदि दूसरा मानें तो इसके कारण भी दूसरे ही मानने पड़ेंगे। इस प्रकार अनुमान सिद्ध करते हैं।

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३६ ॥

अर्थ — कार्य से कारण का अनुमान होता है; क्योंकि जहां-जहां कार्य होता है, वहीं-वहीं कारण भी होता है, और महदादिक भी अपने कार्यों के उपादान कारण हैं, जैसे कि तिलरूप कार्य स्वगत (अपने में रहने वाले) तेल का उपादान कारण है। इस कथन से महदादिकों के कार्यत्व में किसी प्रकार की हानि नहीं है।

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात् ॥ १३७ ॥

अर्थ—महत्तत्वादिकों की अपेक्षा भी मूल कारण प्रकृति अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है; क्योंकि महत्तत्व के कार्य सुखादिकों का प्रत्यक्ष होता है, और सूक्ष्मता के कारण प्रकृति का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता है।

प्र०—प्रकृति तो परम सूक्ष्म है, अतः उसका न होना ही सिद्ध होता है ?

उ०—तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३८ ॥

अर्थ—प्रकृति का अभाव (न होना) नहीं हो सकता; क्योंकि प्रकृति की सिद्धि (होना) मालूम पड़ती है। उसके

कार्य्य महदादिक उसको सिद्ध कर रहे हैं। यहां तक प्रकृति का अनुमान समाप्त हुआ। अब अध्याय की समाप्ति तक पुरुष का अनुमान कहेंगे।

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिस वस्तु में सामान्य ही से विवाद नहीं है उसकी सिद्धि में साधनों की कोई अपेक्षा नहीं, जैसे—प्रकृति में सामान्य ही से विवाद है, उसकी सिद्धि के वास्ते साधनों की अपेक्षा आवश्यक है, वैसे पुरुष में नहीं है; क्योंकि बिना चेतन के संसार में अंधेरा प्रतीत (मालूम) होगा, यहां तक कि बौद्ध भी सामान्यतः कर्म भोक्ता अहं पदार्थ को पुरुष मानते हैं, तो उसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। उदाहरण, धर्मवत्—धर्म की तरह, जैसे कि धर्म को सभी बौद्ध नास्तिक आदि मानते हैं वैसे ही एक चेतन को सभी मानते हैं।

प्र०—पुरुष किसको कहते हैं ?

उ०—शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १४० ॥

अर्थ—शरीर को आदि से लेकर प्रकृति तक जो २३ पदार्थ हैं उनसे जो पृथक् है उसका नाम पुरुष है।

प्र०—शरीरादि से जो भिन्न हैं उसका ही नाम पुरुष है। इसमें क्या हेतु है ?

उ० संहतपदार्थत्वात ॥ १४१ ॥

जैसे शय्या आदिक संहत पदार्थ दूसरे के वास्ते सुख के देने वाले होते हैं, अपने वास्ते नहीं। इसी प्रकार प्रकृत्यादिक पदार्थ भी दूसरे के वास्ते हैं। स्पष्ट आशय यह है, कि प्रकृति आदि जितने संहत पदार्थ हैं, वह किसी दूसरे के वास्ते हैं, और जो वह दूसरा है, उसी का नाम पुरुष है, और संहत देहादि से

भिन्न का नाम पुरुष है। यह पहले भी कह आये हैं, फिर यहां कहना हेतुओं की केवल गिनती बढ़ानी है।

प्र०—पुरुष को प्रकृति ही क्यों न माना जाय, इसमें क्या कारण है ?

उ०—त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥ १४२ ॥

अर्थ—त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम, आदि शब्द से मोह जड़त्वादि, इनसे विपरीत होने से पुरुष प्रकृति नहीं हो सकता; अर्थात् वह प्रकृति से भिन्न है; क्योंकि त्रिगुणत्व विशिष्ट का नाम प्रकृति है, अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन से जिसका सम्बन्ध है, उसका ही नाम प्रकृति माना है, और जिसमें नित्यत्व, शुद्धत्व, बुद्धत्व, मुक्तत्व, यह धर्म हैं, उसका ही नाम पुरुष है, तो विचारना चाहिये प्रकृति और पुरुष में कितना भेद है। इस ही कारण पुरुष को प्रकृति नहीं मान सकते हैं।

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४३ ॥

अर्थ—और भी कारण है, पुरुष अधिष्ठान होने से प्रकृति से जुदा ही है। अधिष्ठान अधिष्ठेय संयोग से मालूम पड़ता है, कि दो के बिना संयोग हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है। आशय यह है कि जब प्रकृति को आधार कहते हैं, तब उसमें आधेय भी अवश्य होना चाहिये, वह आधेय पुरुष है।

प्र०—अधिष्ठान किसको कहते हैं ?

उ०—आधार को।

प्र०—आधार शब्द का क्या अर्थ है ?

उ०—रखने की जगह, जैसे पात्र।

प्र०—अधिष्ठेय किसको कहते हैं ?

उ०—आधेय को।

प्र०--आधेय शब्द का क्या अर्थ है ?

उ०--रखने की वस्तु को आधेय कहते हैं, जैसे—घृत "घी"।

भोक्तृभावात् ॥ १४४ ॥

अर्थ—यदि यह कहो, शरीरादिक ही भोक्ता है, तो कर्ता और कर्म का विरोध होता है; क्योंकि आप ही अपने को भोग नहीं सकता, अर्थात् शरीरादिक प्रकृति के कार्य्य हैं, और स्रक्चन्दनादिक भी प्रकृति के कार्य्य हैं। इस कारण आप अपना भोग नहीं कर सकता।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४५ ॥

अर्थ--यदि शरीरादिक को ही भोक्ता माना जायगा, तो दूसरा दोष यह भी होगा कि मोक्ष के उपाय करने में किसी की प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि शरीरादिक के विनाश होने से आप ही मोक्ष होना सम्भव है, और तीसरा दोष यह होगा, कि सुख दुःखादि प्रकृति के स्वाभाविक धर्म हैं, और स्वभाव से किसी का नाश नहीं होता, इस कारण मोक्ष असम्भव है, इससे पुरुष को ही भोक्ता मानना ठीक है। पूर्व कहे हुए प्रमाणों से पुरुष को २३ तत्वों से भिन्न कह चुके, अब पुरुष क्या वस्तु है, यह विचार करते हैं।

जड़प्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४६ ॥

इस विषय में वैशेषिक कहते हैं कि प्रकाशस्वरूप आत्मा मन के संयोग होने से बाध्य ज्ञान से युक्त होता है और परमात्मा प्रकाशमय है, जड़ प्रकृति से प्रकाशमय नहीं हो सकता। लोक में जड़ (प्रकाश रहित) काष्ठ लोष्ठादिक हैं, और इनमें प्रकाश किसी तरह नहीं देखने में आता। इस कारण सूर्य्यादिक के समान प्रकाशरूप पुरुष जानना चाहिये।

प्र०—प्रकाशस्वरूप आत्मा में तमादि गुणों का भाव है, या नहीं ?

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४७ ॥

उ०—नहीं ! कारण यह है कि पुरुष निर्गुण है, इसी सत्व चित, सत, रजादि गुणवाला नहीं हो सकता; क्योंकि गुण प्रकृति के धर्म हैं।

प्र०—बहुत से तीन गुण पुरुष में मानकर उसको शिव, विष्णु, ब्रह्मा कहते है ?

उ०—श्रुत्या सिद्धस्य नापलापः सत्प्रत्यक्ष-बाधात् ॥ १४८ ॥

अर्थ—यद्यपि उक्त कथन से पुरुष में गुण कल्पना किया जाता है, लेकिन युक्ति और श्रुति इन दोनों से विरुद्ध है, क्योंकि श्रुतियों में भी "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि विशेषणों से पुरुष को निर्गुण ही प्रतिपादन किया है। एवं उस अनुभव प्रत्यक्ष में दोष भी हो सकता है, क्योंकि वह अनुभव किसको होगा। यदि पुरुष को होगा, तो ज्ञान को पुरुष से पृथक् वस्तु मानना पड़ेगा। इस कारण पुरुष निर्गुण है।

प्र०—जो पुरुष प्रकाशस्वरूप ही है, तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि उन अवस्थाओं में प्रकाशस्वरूपता नहीं रहती। यह जीव पर शङ्का है ?

उ०—सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—पुरुष सुषुप्ति का आद्य साक्षी है, अर्थात् जिन अन्तःकरण की वृत्तियों का नाम सुषुप्ति है, वह अन्तःकरण पुरुष के आश्रय है। इसी कारण उस सुषुप्ति का साक्षी पुरुष है, और सुषुप्त अन्तःकरण का धर्म है।

प्र०—यदि पुरुष प्रकाशस्वरूप है, और अन्तःकरण वृत्तियों का आश्रय है, तो वह पुरुष एक है वा अनेक ?

उ०—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ १५० ॥

संसार में जन्म को आदि लेकर अनेक अवस्था देखने में आती हैं. तो इससे ही सिद्ध होता है, कि पुरुष बहुत हैं; क्योंकि यदि सब अन्तःकरण की वृत्तियों का आधार एक ही पुरुष होता, तो यह घट है, इस घट को मैं जानता हूँ, इस घट को मैं देखता हूँ। इस प्रकार का अनुभव जिस क्षण में एक अन्तःकरण को होता है, उसी क्षण में सब अन्तःकरणों को होना चाहिये, क्योंकि वह एक ही सबका आश्रयी है, लेकिन संसार में ऐसा देखने में नहीं आता, इस कारण पुरुष अनेक हैं, और जो कोई-कोई टीकाकार इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जन्मादि व्यवस्था ही से बहुत से पुरुष प्रतीत (मालूम) होते हैं वस्तुतः नहीं। उनका कहना इस कारण अयोग्य है "पुण्यवान स्वर्गे जायते पापी नरके, अज्ञो बध्यते, ज्ञानी मुच्यते।" पुण्यात्मा स्वर्ग में पैदा होता है, और पापी नरक में पैदा होता है, अज्ञ बन्धन को प्राप्त होता है, ज्ञानी मुक्त होता है, इत्यादि श्रुतियां बहुत्व (बहुत सारों) को प्रतिपादन करती हैं उनसे विरोध होगा।

प्र०—एक पुरुष की ही अनेक जन्मादि व्यवस्था हो सकती हैं, या एक पुरुष की एक ही जन्मादि व्यवस्था है ?

उ०—उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५१ ॥

अर्थ—उपाधि (शरीरादि) भेद होने पर भी एक पुरुष का अनेक जन्मों में अनेक शरीरों से योग (मेल) होता है; जैसे कि एक आकाश का घटादिकों के साथ योग होता है। (खुलासा) एक ही पुरुष जन्मान्तर में अनेक उपाधियों को धारण करता है, और अनेक योग वाला कहाता है, आकाश के समान; जैसे कि

आकाश एक ही है, लेकिन जब घट के साथ योग को प्राप्त होता है, तो घटाकाश कहलाता है, और मठ के साथ योग को प्राप्त होता है, तो मठाकाश कहलाता है। लेकिन वे उपाधियां आकाश को एक ही समय और एक ही देश में एक साथ नहीं हो सकतीं, अर्थात् जितने स्थान आकाश का नाम मठाकाश है, उस वक्त उस ही आकाश का नाम घटाकाश किसी प्रकार नहीं हो सकता, किन्तु मठ की उपाधि को नाश करके दूसरे वक्त घट के स्थापन होने पर घटाकाश कह सकते हैं। इस प्रकार ही पुरुष भी एक देश काल में अनेक उपाधियों (शरीरादि) को नहीं धारण कर सकता है, किन्तु अनेक काल में अनेक उपाधियों को धारण करके नाना योग वाला कहने में आता है, अर्थात् एक ही जीव कभी मनुष्य कभी पशु, पक्षी आदि नाना प्रकार के शरीर धारण करके एक ही रहता है। इस ही प्रकार अनेक जीव अनेक उपाधियों को धारण करते हैं, यह ज्ञानियों को ही अनुभव हो सकता है, और भी इस ही विषय में कहते हैं।

उपाधिभिद्यते न तु तद्वान् ॥ १५२ ॥

अर्थ—उपाधि के बहुत से रूप होते हैं और उपाधि को ही नाना रूपों से बोलते हैं, लेकिन उपाधि वाला पुरुष एक ही है। यद्यपि अनेक नव्य (नवीन) वेदान्त शास्त्र के जानने वाले यह कहा करते हैं, कि एक ही आत्मा का कार्य कारण उपाधि में प्रतिबिम्ब के पड़ने से जीव ईश्वर का भेद है, और प्रतिबिम्ब आपस में जुदे होने से जन्मादि व्यवस्था भी हो सकती है। यह उनका कथन इस प्रकार अयोग्य है, इसमें भेद और अभेद की कोई कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि बिम्ब (परछाईं वाला), प्रतिबिम्ब (परछाईं), इन दोनों की बिना अलहदगी माने बिम्ब, प्रतिबिम्ब भाव हो ही नहीं सकता, और जीव को ब्रह्म का प्रति-

बिम्ब मानते हैं, तो देखते हैं कि प्रतिबिम्ब जड़ है। अतएव पुरुष को भोक्ता, बद्ध, मुक्त, कभी नहीं कह सकते हैं, और जीव ब्रह्म की एकता के विषय में हानि प्राप्त होगी। अतएव सांख्य मतानुसार, जीव, ब्रह्म को एक मानना भी नहीं हो सकता है। एक ही ब्रह्म जीव रूप को धारण करता है इस पक्ष का खण्डन इस सूत्र से होता है—

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः॥१५३॥

अर्थ—यदि एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण उपाधियों से मिलकर जीव रूप हो जाता है, तो उसमें विरुद्ध धर्म दुःख बन्धनादि का अध्यास अवश्य होगा, इस कारण जीव ब्रह्म को एक मानना योग्य नहीं है।

प्र०—जबकि पुरुष को निर्धर्म कह चुके, तब जन्म, मरण मोक्ष, बन्ध आदि धर्म क्यों कर हो सकते हैं?

उ०—यह धर्म परिणामी नहीं है जैसे—स्फटिक मणि के पास काला, पीला, हरा इत्यादि रङ्गों के रख देने से वह मणि भी नीली, पीली, काली दीखने लगती है, लेकिन मणि तो वास्तव में सफेद ही है. इस प्रकार ही पुरुष में भी मन के धर्म सुख, दुःखादि शरीर के धर्म, पिता, पुत्रादि प्रतीत होते हैं।

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥१५४॥

अर्थ– मन आदिकों का धर्म जो सुख, दुःखादि उस धर्म का पुरुष में आरोप करने पर भी पुरुष को परिणामित्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सुख, दुःखादि पुरुष के धर्म नहीं हैं, किन्तु मन के धर्म हैं। पुरुष जन्मान्तर में एक ही बना रहता है। जब हर एक शरीर में एक एक पुरुष है तो नाना पुरुष सिद्ध हुए

और "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादिक अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा ?

उ०—नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥१५५॥

अर्थ—अद्वैत को प्रतिपादन (सिद्ध) करनेवाली श्रुतियों से विरोध न होगा क्योंकि वहां पर अद्वैत शब्द जाति पर है, जैसे—एक आदमी के समान कोई नहीं है, जैसा कि संसार में देखने में आता है कि अमुक पुरुष अद्वितीय है। इसका आशय यह है, कि उसके समान दूसरा और कोई नहीं है। इस ही प्रकार ईश्वर को भी अद्वैत व अद्वितीय कहते हैं।

प्र०—जिस रीति से अद्वैत श्रुतियों का विरोध दूर करने के वास्ते ईश्वर में अद्वैत शब्द जाति पर कहा है, उस प्रकार ही पुरुष को भी ईश्वर का ही रूपान्तर क्यों नहीं मानते हैं ?

उ०—विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्यातद्रूपम् ॥१५६॥

अर्थ—मनुष्य के बन्ध आदि कारण सब विदित हैं, और ईश्वर नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वरूप है, इस कारण ईश्वर का रूपान्तर नहीं हो सकता।

प्र०—यदि जीव ईश्वर का रूपान्तर नहीं है, तो अनेक शरीर धारण करने पर भी एक ही पुरुष रहता है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—नान्धदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो पदार्थ अन्धे को नहीं दीखे, उसका अभाव नेत्रवान् मनुष्य कदापि नहीं कह सकता; क्योंकि उसकी नेत्रेन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो गई है, इस कारण उसको दीख नहीं सकता, और चक्षुष्मान् के नेत्रेन्द्रिय की शक्ति वर्त्तमान है, इस कारण वह अभाव नहीं कह सकता।

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—यद्यपि वामदेवादिक मुक्त हो गये, लेकिन अद्वैत स्वरूप तो नहीं हुए; क्योंकि यदि मुक्त जीव सब ही अद्वैतस्वरूप हो जाते तो आज तक सहज-सहज सब पुरुष अद्वैत होकर पुरुष का नाममात्र भी न रहता।

प्र०—वामदेवादिकों का परम मोक्ष नहीं हुआ ?

उ०—अनादावद्ययावदभावाद्भविष्यदप्येवम् ॥ १५९ ॥

अर्थ—अनादि-काल से लेकर आजतक जो बात नहीं हुई है वह भविष्यत्-काल में भी न होगी, यही नियम है। इससे यह सिद्ध होता है, कि अनादि-काल से लेकर आजतक कोई भी पुरुष मुक्त होकर ब्रह्म नहीं हुआ; क्योंकि पुरुषों की संख्या कमती देखने में नहीं आती, और नई पुरुषों की उत्पत्ति मानी नहीं गई है, तो भविष्यत् काल में भी ऐसा ही होगा। अब मोक्ष के विषय में सांख्यकार अपना सिद्धान्त (निश्चय) कहते हैं।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ १६० ॥

अर्थ—इस वर्त्तमान काल के दृष्टान्त से यह जानना चाहिये कि पुरुष के बन्धन का किसी समय में भी अत्यन्त उच्छेद नहीं हो सकता। इसका मतलब यह है कि कोई भी पुरुष ऐसा मुक्त नहीं है, कि फिर उसका कभी बन्धन न हो सके और इससे यह भी मालूम होता है, कि मुक्त पुरुष का फिर भी जन्म होता है।

प्र०—मोक्ष का क्या स्वरूप है ?

उ०—व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६१ ॥

अर्थ—मुक्ति संसार के दुःख सुख दोनों ही से विलक्षण है, अर्थात् मुक्ति में पुरुष को शान्त सुख होता है, यह स्वरूप है।

प्र०—जबकि पुरुष को शान्त साक्षी कह चुके वह साक्षीपन मोक्ष समय में नहीं हो सकता; क्योंकि वहां मनादि का

अभाव है, तो पुरुष सदा एक रूप रहता है, यह कहना भी असंगत हुआ ?

उ०—साक्षात् संबंधात् साक्षित्वम् ॥ १६२ ॥

अर्थ—पुरुष को जो साक्षित्व कहा है, वह मन आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध में कहा है, किन्तु वास्तव में पुरुष साक्षी नहीं है; क्योंकि पाणिनिमुनि ने साक्षी शब्द का ऐसा अर्थ किया है "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" । इस सूत्र से साक्षी शब्द निपातन किया है, कि जितने समय में निरन्तर देखता है उतने ही समय में उसकी साक्षी संज्ञा है । इससे यह सिद्ध होता है, कि जितने समय तक पुरुष का मन से सम्बन्ध रहता है, उतने ही समय तक पुरुष की साक्षी संज्ञा रहती है, अथवा मन के संसर्ग (मेल) से पुरुष में दुःख सुख आदि को माना जाय, तो पुरुष को वास्तव में दुःखादि से मुक्ति होने में यह दोष होगा कि—

नित्यमुक्तत्वम् ॥ १६३ ॥

अर्थ—यदि पुरुष को नित्यमुक्त मानें, तो मुक्ति का साधन करना व्यर्थ होता है, और मुक्ति प्रतिपादक जो श्रुतियां हैं उन में भी दोषारोपण होगा, और इस सूत्र के अर्थ में जो विज्ञान-भिक्षु ने (नित्यमुक्तत्वम्) यह पुरुष को विशेषण दिया है, अर्थात् पुरुष को नित्य मुक्त माना है । यह कथन इस कारण अयोग्य है कि "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सूत्र से पुरुष का अनित्य मुक्त कपिलाचार्य ने माना है । इससे यहां विरोध होगा । उन टीकाकारों ने यह न सोचा, क्या उन ऋषियों की बुद्धि मनुष्यों की बुद्धि की तरह क्षणिक होती है, कि कभी कुछ कहें, कभी कुछ कहें, जबकि उक्त सूत्र 'इदानीमित्यादि" से पुरुष को अनित्य मुक्त प्रतिपादन कर चुके, फिर नित्य-मुक्त कैसे कह सकते हैं और पूर्वोक्त टीकाकार के कथन में इस कारण से भी

अयोग्यता है कि जो दोष कपिलाचार्य को अपने कहे हुए विशेषणों से दीखे, उनके दुरुस्त करने के लिये "साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम्" यह सूत्र फिर कहा, इसी प्रकार "नित्यमुक्तत्वम्" और "औदासीन्यत्वम्." यह दो तरह के दो दोष आवेंगे, उनका समाधान इस अध्याय के अन्तिम से सिद्ध कर दिया गया है। इस ही कारण "नित्यमुक्तत्वम्" और "औदासीन्यञ्चेति," यह दोनों सूत्र दोष के दिखानेवाले हैं।

औदासीन्यञ्चेति ॥ १६४ ॥

अर्थ—और पुरुष को वास्तव में मुक्त मानें तो औदासीन्य दोष होगा, क्योंकि पुरुष का किसी से सम्बन्ध ही नहीं है, तो वह किसी कर्म का कर्त्ता क्यों होगा। जब किसी कर्म का कर्त्ता तो रहा ही नहीं तो बन्धन आदि में क्यों पड़ेगा, तब उसमें औदासीन्य दोष होगा। इस सूत्र का भाव और पुरुष को कर्त्तृत्व अगले सूत्र से प्रतिपादन करेंगे।

प्र०—"औदासीन्यञ्चेति" इस सूत्र में 'इति' शब्द क्यों है?

उ०—यह इस वास्ते है, कि पुरुष की सिद्धि में दोष आदि का खण्डन कर चुके।

उपरागात्कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात्॥१६५॥

अर्थ—पुरुष में जो कर्त्तृत्व है, सो मन के उपराग से है, और मन में जो चित्त-शक्ति है, वह पुरुष के संसर्ग से है। यहां पर जो "चित्सानिध्यात्" यह दो बार कहा है सो अध्याय की समाप्ति का जतानेवाला है और इस अध्याय में शास्त्र के मुख्य चार ही अर्थ कहे गये हैं "हेय" त्यागने के लायक, "हान" त्यागना। "हेय" और "हान" और इन दोनों के हेतु।

॥ इति सांख्यदर्शने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

शास्त्र का तो विषय निरूपण कर चुके, अब पुरुष का अपरिणामित्व ठहराने के वास्ते प्रकृति से सृष्टि का होना, विस्तार से द्वितीय अध्याय में कहेंगे और इस दूसरे अध्याय में प्रधान के जो कार्य हैं, उनके स्वरूप को भी विस्तार से कहना है; क्योंकि प्रकृति के कार्यों से पुरुष का ज्ञान अच्छी तरह से होता है। कारण यह है कि प्रकृति के कार्यों के बिना ज्ञान हुए मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती, अर्थात् जब तक पुरुष, प्रकृति और प्रकृति के कार्य, इन तीनों का अच्छी तरह ज्ञान नहीं हो सकता तब तक मुक्ति भी न होगी; किन्तु उनके जानने ही से मुक्ति होती है।

प्र०—अपरिणामित्व किसको कहते हैं ?

उ०—जो परिणाम को प्राप्त न हो।

यदि अचेतन प्रकृति निष्प्रयोजन सृष्टि को उत्पन्न करती है, तो मुक्त को बन्ध की प्राप्ति हो सकती है। इस आशय को विचार करके सृष्टि के उत्पन्न होने का प्रयोजन इस सूत्र में कहते हैं।

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १ ॥

अर्थ—पुरुष में जो अहंकार के संबन्ध से दुःख मालूम पड़ता है, उसकी मुक्ति के वास्ते अथवा स्वार्थ अर्थात् पुरुष के सम्बन्ध से जो मन आदि को दुःख होते हैं, उनके दूर करने के लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति का कर्त्तृत्व है और इस सूत्र में कर्तृत्व शब्द पहिले सूत्र से लाया गया है।

प्र०—यदि मोक्ष के वास्ते ही सृष्टि होती है, तो एक बार की ही सृष्टि से सब पुरुषों को मोक्ष हो जाता, बारम्बार सृष्टि के होने का क्या कारण है ?

उ०—विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

अर्थ—एक बार की सृष्टि से मोक्ष नहीं होता, किन्तु बहुत से जन्म, मरण, व्याधि आदि नाना प्रकार के (सैकड़ों) दुःखों से अत्यन्त (बहुत) तप्त (दुःखित होने) पर जब प्रकृति पुरुष का ज्ञान पैदा होता है तब वैराग्य द्वारा मोक्ष होता है और वह वैराग्य एक बार की सृष्टि से आजतक किसी को उत्पन्न नहीं हुआ। इसमें यह सूत्र प्रमाण है—

न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥ ३ ॥

अर्थ—मुक्ति श्रवणमात्र से भी नहीं हो सकती। यद्यपि श्रवण भी बहुत जन्मों के पुण्यों से होता है तथापि श्रवणमात्र से वैराग्य की सिद्धि भी नहीं होती है, किन्तु विवेक के साक्षात्कार से मुक्ति होती है और साक्षात्कार शीघ्र नहीं होता। अनादि मिथ्यावासना के बलवान् होने से और उस वासना के रहते हुए पुरुष मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु योग से जो विवेक साक्षात्कार होता है, उसके ही द्वारा मुक्त होता है और इस योग में सैकड़ों विघ्न पैदा हो जाते हैं। इस कारण यह योग भी बहुत जन्मों में सिद्ध होता है। इस कारण जन्मान्तर में वैराग्य को प्राप्त होकर किसी समय में कोई-कोई पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु सब मोक्ष को नहीं प्राप्त होते।

प्र०—सृष्टि का प्रवाह (जन्म, मरण आदि) किस तरह चल रहा है ?

उ०—बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥

अर्थ— जैसे एक गृहस्थ से सैकड़ों नौकर बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि का क्रम से भरण-पोषण (भोजन, वस्त्र आदि) होता है, इसी प्रकार प्रकृति के सत्वादि गुण प्रत्येक सैकड़ों पुरुषों को क्रम से मुक्त कर देते हैं, इस वास्ते कोई-कोई मुक्त हो भी जाते हैं; लेकिन और जो बाकी मनुष्य हैं उनकी मुक्ति के वास्ते सृष्टिप्रवाह की आवश्यकता है, क्योंकि पुरुष अनन्त हैं।

प्र०—प्रकृति सृष्टि की कारण है, इसमें क्या हेतु है ? क्योंकि पुरुष को ही कारण सब मानते हैं ?

उ०—प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि वास्तव में (निस्सन्देह) प्रकृति ही सृष्टि का कारण है तथापि (तो भी) सृष्टि के करने में पुरुष की अध्यास सिद्धि है।

प्र०—अध्यास किसको कहते हैं ?

उ०—अध्यास उसे कहते हैं कि काम दूसरा करे और नाम दूसरे का हो, जैसे कि—लड़ाई में योद्धा (वीर लोग) अपनी शक्ति से जीत और हार करते हैं; लेकिन वह जीत-हार सब राजा ही की गिनी जाती है, इसको ही अध्यास कहते हैं।

प्र०—वास्तव में प्रकृति ही सृष्टि को करनेवाली कैसे है ? क्योंकि सृष्टि को अनित्य शास्त्रों ने प्रतिपादन (सबूत) किया है। यदि ऐसा है तो उस सृष्टि का कारण, जो प्रकृति है, वह भी अनित्य होगी ?

उ०—कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

अर्थ—कार्यों के देखने ही से प्रकृति के वास्तव कारणत्व (कारण होने) की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि वह सृष्टिरूपी

कार्य प्रकृति के सिवाय और किसका हो सकता है ? यदि पुरुष का कहें तो पुरुष में परिणामित्व की प्राप्ति आती है, और यदि प्रकृति का न कहें तो किसका--यह सन्देह पैदा होता है ? इस कारण प्रकृति ही को वास्तव में कारणत्व है और जो सृष्टि के अनित्यत्व में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि स्वप्न भी अपनी अवस्था में सत्य ही होता है। इस कारण सृष्टि नित्य है, और उसका कारण भी नित्य है।

प्र०—प्रकृति अपने मोक्ष के वास्ते सृष्टि करने में क्यों तैयार होती है ?

उ०--चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥ ७ ॥

अर्थ—विवेकी पुरुष के लिए प्रकृति का यह नियम है कि प्रकृति विवेकी पुरुष के द्वारा अपना मोक्ष करे जैसे--ज्ञानवान् पुरुष बड़ी बुद्धिमानी के साथ कांटे से कांटे को निकालता है, उसका ही सहारा और अज्ञानी मनुष्य भी लेते हैं; इस तरह से प्रकृति को भी जानना चाहिये।

प्र०--पुरुष में कारणत्व का होना गिनने ही मात्र कहा है सो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति के मेल से पुरुष भी महदादिकों के परिणाम को धारण कर लेता है, जैसे—काठ जमीन के ही समान हो जाता है, उसी तरह पुरुष को भी होना चाहिये ?

उ०—अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्ये नायोदाहवत् ॥८॥

अर्थ--प्रकृति के साथ पुरुष का योग होने पर भी पुरुष वास्तव में सृष्टि का कारण नहीं हो सकता, यह प्रत्यक्ष ही है जैसे-लोहे और अग्नि के संयोग होने पर लोहा अग्नि नहीं हो सकता। यद्यपि इस दृष्टांत से दोनों में परिणामित्व हो सकता

है, क्योंकि अग्नि और लोहे ने अपनी पहली अवस्था को छोड़ दिया है, तो भी एक ही परिणामी होना चाहिये; क्योंकि दोनों का परिणामी होने से गौरव होता है, और जो दोनों ही को परिणामी माना जाय तो स्फटिकमणि में लाल या पीले रंग की परछाईं पड़ने से जो उसमें लाली वा पीलापन आता है वो भी वास्तविक मानना पड़ेगा, लेकिन वैसा माना नहीं जाता ?

प्र०—सृष्टि का मुख्य निमित्तकारण क्या है ?

उ०—रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसमें राग और विराग इन दोनों का योग (मेल) हो, उसे सृष्टि कहते हैं। इन दोनों का योग होना ही सृष्टि करने का निमित्त-कारण है।

प्र०—सृष्टि प्रक्रिया (होना) किस तरह होती है ?

उ०—महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—महतत्वादिकों से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह पंचभूत पैदा हुए। यद्यपि प्रकृति का सृष्टित्व अपनी मुक्ति के वास्ते है क्योंकि वह प्रकृति नित्य है; किन्तु महदादिकों का अपने-अपने विकार का सृष्टित्व अपनी मुक्ति के वास्ते नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनित्य है। अतएव महदादिकों का सृष्टित्व पराये वास्ते है और भी प्रमाण है।

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

अर्थ—इन महदादिकों का कारणत्व पुरुष के मोक्ष के वास्ते है, किन्तु अपने वास्ते नहीं है; क्योंकि महदादि विनाशी हैं अर्थात् नाश वाले हैं।

प्र०—यदि महदादिकों के कारणत्व (बनाने वालापन) पराये वास्ते है, तो प्रकृति के वास्ते होना चाहिये। पुरुष के वास्ते क्यों है?

उ०—महदादिक प्रकृति के ही कार्य हैं, इस कारण 'पर' शब्द से पुरुष का ही ग्रहण होगा।

उ०—दिशा और काल की सृष्टि किस प्रकार से हुई ?

उ०—दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—दिशा और काल यह दोनों आकाश से उत्पन्न हुए, इस कारण यह दोनों आकाश के समान नित्य हैं, अर्थात् आकाश में जो व्यापकता है, वह व्यापकता इन दोनों में भी है, इस कारण यह दोनों नित्य हैं और जो खण्ड दिशा और काल हैं, सो उपाधियों के मेल से आकाश से उत्पन्न होते हैं, वे अनित्य होते हैं। अब बुद्धि का स्वरूप और धर्म दिखाते हैं।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥

अर्थ—निश्चयात्मक ज्ञान का नाम बुद्धि है, और अध्यवसाय नाम निश्चय का है, उस निश्चय को ही बुद्धि कहते हैं।

तत्कार्यं धर्म्मादि ॥ १४ ॥

प्र०—उस बुद्धि के कार्य धर्मादिक हैं। तो मूर्ख पुरुषों की बुद्धि में ज्ञानादि निन्दित क्यों प्रबल (बलवान्) होते हैं ?

उ०—महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५ ॥

अर्थ-मन के संयोग होने से यदि मन में मिथ्याज्ञान के संस्कार हैं तो धर्मादिक विपरीत (उलटे) हो जाते हैं, अर्थात अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, यह सब विपरीत हो जाते हैं। अब महत्त्व के कार्य अहंकार को दिखाते हैं।

अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥

अर्थ—अहं करने वाले को अहंकार कहते हैं, जैसे—कुम्हार को कुम्भकार कहते हैं, और यह अहंकार शब्द अन्तःकरण का नाम है। अहंकार और अभिमान यह दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं। अब अहंकार का कार्य दिखाते हैं।

एकादश पंचतन्मात्रं-यत् कार्यम् ॥ १७ ॥

नेत्र आदि को लेकर १० इन्द्रियां, शब्द आदि को लेकर पंचतन्मात्रा, सब अहंकार के कार्य हैं।

सात्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥ १८ ॥

अर्थ– विकार को प्राप्त हुए अहंकार से सात्विक मन होता है, और यह भी समझना चाहिये कि राजस रजोगुण वाले अहंकार से केवल दश इन्द्रियां, और तामस तमोगुण वाले अहंकार से पंच-तन्मात्रा होती हैं, और मन सत्वगुण से होता है, इस कारण उनसे ही ग्यारह इन्द्रियां दिखाते हैं।

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ (मूत्रस्थान) यह कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। नेत्र, कान, त्वचा (खाल), रसना (जीभ), घ्राण (नाक) यह पांचों ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं।

प्र०—इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचभूतों से है ?

उ०—आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ २०॥

अर्थ—बहुत-सी श्रुतियां ऐसी देखने में आती हैं, जो अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति को कहती हैं, जैसे—(एकोऽहं बहुस्याम्) एक मैं बहुत रूपों को धारण करता हूं इत्यादि। इस कारण आकाशादि पंचभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहना ठीक नहीं।

प्र०—"अग्नि वागप्येति वातं प्राणः" अग्नि में वाणी लय होती है, और पवन में प्राण लय होता है। जब कि अग्नि इत्यादि में श्रुतियां कहती हैं कि अग्नि में वाणी लय हो जाती है और वायु में प्राण लय हो जाता है, तो उत्पत्ति भी इनसे ही क्यों न मानी जाय ?

उ०—देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—अग्नि आदि श्रेष्ठ गुण से युक्त पदार्थों में लय दीखता है, लेकिन उत्पत्ति नहीं दीखती और यह कोई नियम भी नहीं है कि जो जिसमें लय हो वह उससे ही उत्पन्न भी हो, जैसे—जल की बून्द पृथिवी में लय हो जाती है, लेकिन उससे उत्पन्न नहीं होती। इस कारण इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार ही से है किन्तु पंचभूतों से नहीं है।

प्र०—इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाला मन नित्य है वा अनित्य ?

उ०—तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

अर्थ—नित्य नहीं है, किन्तु अनित्य है, क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इससे ही सब इन्द्रियां और मन पैदा होते हैं, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि मन का नाश भी देखते में आता है, क्योंकि बुढ़ापे में चक्षु (तेज) आदि इन्द्रियों की तरह नाश भी होता है। इससे मन नित्य नहीं है।

प्र०—नासिका आदि इन्द्रियों के गोलक चिन्हों को ही इन्द्रिय माना है ?

उ०—अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥२३॥

अर्थ—हां ! भ्रान्त मनुष्यों की बुद्धि ने गोलक का नाम इन्द्रिय माना है, लेकिन इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियों से इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता।

प्र०—इन्द्रिय एक ही है, उसकी ही अनेक शक्तियाँ अनेक विलक्षण काम करती रहती हैं ?

उ०----शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥

अर्थ—एक इन्द्रिय की भी अनेक शक्तियों के मानने से इन्द्रियों का भेद सिद्ध होगया, क्योंकि उन शक्तियों में ही इन्द्रियत्व का स्थापन हो सकता है।

प्र०—एक अहंकार से अनेक प्रकार की इन्द्रियों की उत्पत्ति होना यह बात तो न्याय के विरुद्ध है, क्योंकि एक वस्तु से एक ही वस्तु उत्पन्न होनी चाहिये ?

उ०—न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वस्तु प्रमाण ही से सिद्ध है, उसके विरुद्ध कल्पना करना न्याय से विरुद्ध है, क्योंकि महदादिकों में जो गुण दीखते हैं वे महदादिकों के कार्यों में भी दीखते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो सिद्ध है वह न्याय से विरुद्ध नहीं हो सकता। कारण वास्तव में तो मन एक ही है, लेकिन उस कारण की शक्तियों के भेद से दस इन्द्रियां अपने-अपने कार्य्य करने में तत्पर (लगी) रहती हैं और इस ही बात को अगला सूत्र भी पुष्ट करता है।

उभयात्मकं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां—इन दशों इन्द्रियों से मन का सम्बन्ध है, अर्थात् मन के विना कोई भी इन्द्रिय अपने किसी काम के करने में नहीं लग सकती। अब इस कहे हुए सूत्र में विस्तार से कहते हैं।

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥ २७ ॥

अर्थ—गुणों के परिणाम भेद से एक मन की अनेक शक्तियां इस तरह होती हैं, जैसे—मनुष्य जैसी संगति में बैठेगा उसके

वैसे ही गुण हो जायेंगे; यथा, कामिनी स्त्री की संगति से कामी और वैराग्य शील वाले के साथ वैराग्य-शील वाला हो जाता है। इस ही तरह मन भी नेत्र आदि को लेकर जिस इन्द्रिय से संगति करता है, उसी इन्द्रिय से मन का मेल हो जाता है। अब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों के विषय में कहते हैं।

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—रूप को आदि लेकर और मल-त्याग पर्यन्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विषय हैं, जैसे नेत्र का रूप, जिह्वा (जीभ) का रस, नाक का गन्ध, त्वचा (खाल) का स्पर्श, कान का शब्द, मुख का वचन, हाथ का पकड़ना, पैरों का चलना, लिंग का पेशाब करना, गुदा का विष्ठा करना—यह दशों विषय भिन्न-भिन्न हैं, और जिसका आश्रय लेकर यह इन्द्रिय संज्ञा को प्राप्त होती है उस हेतु को भी कहते हैं।

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इन्द्रियों का करणत्व आत्मा है अर्थात् जो-जो इन्द्रियां अपने-अपने काम के करने में लगती हैं वे आत्मा के समीप होने से कर सकती हैं, इससे आत्मा को परिणामित्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे—चुम्बक पत्थर के संसर्ग से लोह खिंच आता है, ऐसे ही आत्मा के संसर्ग से नेत्र आदि इन्द्रियों में देखने आदि की शक्ति हो जाती है। अब अन्तःकरण की वृत्तियों को भी कहते हैं।

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ ३० ॥

अर्थ मन की तीन वृत्तियां जो चित्त, अहङ्कार और बुद्धि हैं, उनका पृथक् २ लक्षण विदित होता है। अभिमान के समय अहङ्कार, विचार के समय चित्त, और ज्ञान के समय बुद्धि स्वतः विदित होती है।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच ॥ ३१ ॥

अर्थ—प्राण वायु आदि को लेकर समान पर्यन्त जो पांच वायु हैं यह अन्तःकरण की साधारण वृत्ति कहलाते हैं, अर्थात जो वायु हृदय में रहता है; उसका नाम प्राण है; और जो गुदा में रहता है, उसका नाम अपान है, और जो कण्ठ में रहता है, उसका नाम उदान है; जो नाभि में रहता है, उसका नाम समान है; और जो सारे शरीर में रहता है उसका नाम व्यान-वायु है—यह सब अन्तःकरण के परिणामी भेद हैं, और जो बहुत से प्राण और वायु को एक मानते हैं, उनका मानना इस सबब से अयोग्य है कि "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी" इसमें प्राण और वायु को भिन्न-भिन्न माना है। अब आचार्य अपने सिद्धान्त को प्रकाश करते हैं, कि जैसे कई पुरुष इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से (एक समय में एक ही इन्द्रिय काम करेगी) मानते हैं, उसको अयुक्त सिद्ध करते हैं।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से भी होती है और बिना क्रम के भी होती है, क्योंकि संसार में दीखता हैं कि एक आदमी जब पानी पीने में तत्पर होता है, तब वह देखता भी है।

प्र०—क्या न्याय ने जो एक ही इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होना लिखा है, वह ठीक नहीं ?

उ०—एक काल में दो ज्ञानेन्द्रियां काम नहीं करतीं, परन्तु एक कर्मेन्द्रिय और एक ज्ञानेन्द्रिय साथ-साथ काम कर सकती हैं।

मन की वृत्तियां ही संसार का निदान है, अर्थात् जन्म-मरण आदि सब मन की वृत्तियों से ही होते हैं; इसको ही कहते भी हैं :—

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि), विपर्यय (झूठा ज्ञान), विकल्प (सन्देह), नींद, स्मृति याद होना; यह पांच मन की वृत्तियां हैं, और इनसे ही सुख दुःख उत्पन्न होता है। जब मन की वृत्तियां निवृत्त हो जाती हैं तब पुरुष के स्वरूप में स्थित हो जाती हैं। इस बात को इस आगे के सूत्र से सिद्ध करते हैं।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ ३४ ॥

अर्थ—मन की वृत्तियों से निवृत्त होने पर पुरुष का उपराग शान्त हो जाता है, और पुरुष स्वस्थ हो जाता है। यही बात योग सूत्र में भी कही गई है, कि जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। पुरुष का स्वस्थ होना यही है, कि उसके उपाधिरूप प्रतिबिम्ब का निवृत्त हो जाना, इसको ही दृष्टान्त से भी सिद्ध करते हैं।

कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि में काले, पीले इत्यादि फूलों की परछाईं पड़ने से काले, पीले रंग वाली वह स्फटिक मणि मालूम पड़ने लगती है, और जब उन काले, पीले फूलों को मणि के साथ से भिन्न कर देते हैं तब वह मणि स्वच्छ प्रत्यक्ष रह जाती है। इस ही तरह मन की वृत्तियों के दूर होने पर पुरुष राग रहित और स्वस्थ हो जाता है।

प्र०—यह इन्द्रियां किसके प्रयत्न से अपने-अपने कार्यों के करने में लगी रहती हैं. क्योंकि पुरुष तो निर्विकार है और ईश्वर से इन्द्रियों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ?

उ०—पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुष के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उसी काम के वश से है, जो पहिले प्रकृति को कह आये हैं, और इसका दृष्टान्त भी ३५ वें सूत्र में दे चुके हैं, कि संयोग से जैसे एक का गुण दूसरे में मालूम होता है, उसी प्रकार प्रकृति का कर्म पुरुष संयोग से है, वही इन्द्रियों की प्रवृत्ति में हेतु है। इस सूत्र में 'अपि' शब्द से पूर्व कही हुई प्रकृति की याद दिलाकर पुरुष को कर्म से कुछ अंश में मुक्त किया है, और फ़िर भी इसी पक्ष को पुष्ट करने के वास्ते दृष्टान्त देंगे। दूसरे के वास्ते भी अपने आप प्रवृत्ति होती है, इसमें दृष्टान्त भी देते हैं।

धेनुवद्वत्साय ॥ ३७ ॥

अर्थ—जैसे कि बछड़े के वास्ते गौ स्वयं (आप ही) दूध उतार देती है, दूसरे की कुछ भी आवश्यकता नहीं रखती इसी प्रकार अपने स्वामी (पुरुष) के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वयं होती है।

प्र०—भीतर और बाहर की सब इन्द्रियां कितनी हैं ?

उ०—करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—अवान्तर-भेद से इन्द्रियां तेरह तरह की हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक बुद्धि, मन, और अहङ्कार, इन भेदों के होने से।

प्र०—अवान्तर कहने का क्या प्रयोजन (मतलब) है ?

उ०—मन सब इन्द्रियों में मुख्य है।

प्र०—पुरुष के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति में केवल मन ही मुख्य है, और सब इन्द्रियाँ गौण हैं, तो बुद्धि में वह कौन-सा मुख्य धर्म है ?

उ० — इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् ।
कुठारवत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जैसेकि पेड़ के काटने में चोट का मारना मुख्य कारण है, और उसके काटने का मुख्य साधन कुल्हाड़ा है, इस ही प्रकार इन्द्रियों को करणत्व और मन को साधकत्व (जिसके बिना किसी तरह कार्य सिद्ध न हो) का योग है ।

प्र०—जबकि अहङ्कार भी इन्द्रिय माना गया है, तो मन ही मुख्य कारण है, ऐसा कहना अयोग्य है ?

उ०—द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥

अर्थ—बाह्य (बाहर की) और आभ्यन्तर (भीतर की), इन बाहर प्रकार के भेद वाली इन्द्रियों में मन ही प्रधान है; क्योंकि संसार में यही बात दीखती है, जैसे—राजा के बहुत से नौकर-चाकर होते हैं, तथापि उन सब के बीच में एक मन्त्री ही मुख्य होता है। छोटे-छोटे नौकर और जमींदार आदि सैकड़ों होते हैं, इसी तरह केवल मन प्रधान है और सब इन्द्रियाँ गौण हैं, और भी मन की प्रधानता को इन तीन सूत्रों से पुष्टि पहुँचती है।

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

अर्थ - यद्यपि मन सब इन्द्रियों में व्यापक है तथापि अपने कार्य में उस मन का अव्यभिचार (निश्चय) दिखाई पड़ता है।

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जितने भी संस्कार हैं सबको मन ही धारण करता है। यदि नेत्र आदि अहङ्कार अथवा मन इनको ही प्रधान मानें तो अंधे, बहरे, इत्यादिकों को स्मरण (याद) की शक्ति न होना चाहिये, लेकिन देखने में आता है, कि उन लोगों की स्मरण-

---

नोट—कपिलमुनि बुद्धि और चित्त को एक ही मानते हैं।

शक्ति अच्छी तरह होती है, और तत्वज्ञान के समय में अहङ्कार का लय भी हो जाता है, तो भी स्मरण-शक्ति नष्ट नहीं होती जो कि स्वाभाविक बुद्धि का धर्म है।

स्मृत्यनुमानाच्च ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्मृति का अनुमान बुद्धि से ही होता है, क्योंकि चिन्ता वृत्ति (ध्यान की एक अवस्था) सब अवस्थाओं से श्रेष्ठ है, और इस सूत्र से यह भी मालूम होता है, कि कपिलाचार्य बुद्धि और चित्त को एक ही मानते हैं, और मतवादियों की तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इन चारों को अन्तःकरण चतुष्टय नहीं मानते हैं।

प्र०—चिंतावृत्ति पुरुष को ही होनी चाहिये ?

उ०—सम्भवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥

अर्थ=अपने आप पुरुष को स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि पुरुष कूटस्थ है।

प्र०—जबकि मन को करण (मुख्य इन्द्रिय) माना है, तो और इन्द्रियों से क्या प्रयोजन है ?

उ०—बिना नेत्रादि इन्द्रियों के मन अपना कोई भी काम नहीं कर सकता। यदि नेत्रादि इन्द्रियों के बिना भी मन इन्द्रियों का काम कर सकता है, तो अन्धे आदमी को भी देखने की शक्ति होनी चाहिये। क्योंकि मन तो उसके भी होता है। परन्तु संसार में ऐसा देखने में ही नहीं आता, इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि मन मुख्य है और सब इन्द्रियां गौण हैं।

प्र०—जबकि मन को ही मुख्य (प्रधान) माना है तो पहिले सूत्र में मन को उभयात्मक क्यों माना है ?

उ०—आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥

अर्थ—क्रिया के कमती-बढ़ती होने से गुणों का भी प्रधान

भाव [बड़प्पन] एक दूसरे की निस्बत से होता है, जैसे—नेत्र आदि के व्यापार में अहङ्कार मुख्य है, इसी तरह अहङ्कार के व्यापार में मन प्रधान है।

प्र०—इस पुरुष की मन इन्द्रिय ही मुख्य है, अर्थात् अन्य इन्द्रियाँ गौण है ?

उ०-तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसेकि संसार में दीखता है कि जो आदमी कुल्हाड़ी को खरीदता है, उस कुल्हाड़ी के व्यापार से खरीदने वाले को फल भी होता है, इस प्रकार मन भी पुरुष के कर्मों से पैदा होता है, अतएव मन आदि का फल पुरुष को मिलता है। इस कारण मनुष्य की मन इन्द्रिय ही मुख्य है। यह समाधान पहले कर भी आये हैं कि पुरुष कर्म से रहित है, लेकिन पुरुष में कर्म का आरोपण होता है। दृष्टांत भी इस विषय का दे चुके हैं, जैसे—राजा के सेवक इत्यादि युद्ध करें और हार-जीत राजा की गिनी जाती है, इस प्रकार ही पुरुष में कर्म का आरोपण होता है।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—यद्यपि सब इन्द्रियों के साथ पुरुष का समान कर्मयोग है, तथापि बुद्धि ही को मुख्यता है जैसे—राज्य के रहने वाले चांडाल आदि से द्विजाति पर्यन्त सब ही लोग राजा की प्रजा हैं तथापि जमींदार से मुख्य मन्त्री ही गिना जाता है। इस दृष्टांत को संसार परंपरा के समान यहां समझ लेना चाहिये।

प्र०—लोकवत् यह शब्द दुवारा क्यों कहा ?

उ०—यह दुवारा का कहना अध्याय की समाप्ति दिखाता है।

प्र०—इस अध्याय में कितने विषय कहे गये हैं ?

उ०—प्रकृति का कार्य, प्रकृति की सूक्ष्मता, दो प्रकार की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि का वर्णन है। इतने विषय कहे गये हैं।

इति सांख्यदर्शने द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

तृतीयोऽध्यायः

अब हम तीसरे अध्याय में प्रधान जो प्रकृति है उसका स्थूल कार्य और महाभूत (पृथ्वी आदि) और दो तरह के शरीर यह सब कहते हैं।

अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥

अर्थ—अविशेषात् अर्थात् जिससे छोटी और कोई वस्तु न हो सके ऐसे सूक्ष्म भूत अर्थात् पंचतन्मात्राओं से विशेष स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि सुखादिकों का ज्ञान स्थूलभूतों में हो सकता है, और सूक्ष्मभूत योगी महात्माओं के हृदय में प्रकाश होते रहते हैं।

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

पूर्वोक्त (पहिले कहे हुए) वाईस तत्वों में से स्थूल सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है।

प्र०—स्थूल शरीर किसको कहते हैं ?

उ०—जिसका जाग्रतावस्था में अभिमान होता है।

प्र०—लिङ्ग-शरीर किस को कहते हैं ?

उ०—मन अहङ्कार और इन्द्रियां, जिसके द्वारा अपने अपने काम करने में तत्पर रहते हैं, उसको लिङ्ग-शरीर कहते हैं।

प्र०—कारण-शरीर किसको कहते हैं ?

उ०—लिङ्ग-शरीर के कारण को कारण-शरीर कहते हैं।

प्र०—बाईस तत्त्वों के बिना संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

उ०–तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

अर्थ—बाईस तत्त्व शरीर के कारण हैं, और देखने में ऐसा ही आता है, कि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अत उन्हीं बाईस तत्त्वों से संसार की उत्पत्ति होती है। अब संसार की अवधि को भी कहते हैं—

आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—अविशेष जो सूक्ष्म भूत हैं उनकी सृष्टि प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक विवेक (ज्ञान) नहीं होता। ज्ञान के होते ही सूक्ष्म भूतों की प्रवृत्ति नहीं रहती।

प्र०—यदि अविवेक के ही वास्ते सृष्टि का होना है तो महाप्रलय में भी सृष्टि का होना योग्य है, क्योंकि उस अवस्था में भी अविवेक बना रहता है ?

उ०—उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

अर्थ—जब अविवेक के कार्य्य प्रारब्ध का उपभोग पूरा हो जाता है, तब ही महाप्रलय होती है। जबकि अविवेक का भोग ही विशेष रहा है। तब सूक्ष्म भूत इस शरीर को क्यों उत्पन्न करेंगे ? और महाप्रलयावस्था में प्रारब्ध कर्म का भोग नाश हो जाता है तब भी संचित कर्म बने रहते हैं, क्योंकि कर्म प्रवाह से अनादि हैं।

सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सृष्टि समय में पुरुष दोनों वासना और भोग-बद्ध होता है।

प्र०—परिमुक्त शब्द का अर्थ तो छूटना है, आप बद्ध अर्थ करते हैं ?

उ०—पहले अध्याय के सूत्रों में पुरुष को भोक्तृत्वादि विशेषण दे चुके हैं, इस कारण यहां अभोक्ता कहना अयोग्य है। दूसरे संसार दशा में ही पुरुष को सुख-दुःख न होंगे, तो क्या मुक्त अवस्था में होंगे और जो सुख-दुःख ही नहीं, तो मुक्ति का उपाय भी कोई न करेगा। तीसरे परिमुक्त शब्द का अर्थ मुक्त करना भी अयोग्य है। यहां 'परिमुक्त' शब्द का अर्थ बद्ध करना ही ठीक है।

अब स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के शरीरों के भेद कहते हैं।

मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥ ७ ॥

अर्थ—स्थूल शरीर दो तरह के होते हैं-एक तो वह जो माता-पिता के संगम से पैदा होते हैं; दूसरे वह जो विना माता-पिता के उत्पन्न हों, जैसे वर्षा ऋतु में वीर बहूटी इत्यादिक होते हैं।

प्र०—पूर्व सूत्रों से साबित हुआ कि तीन प्रकार के शरीर हैं, लेकिन पुरुष कौन से शरीर की उपाधियों से सुःख-दुःख का भोक्ता होता है ?

उ०—पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—लिङ्ग-शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुख-दुःख होते हैं, क्योंकि संसार के आदि में लिंग शरीर की ही उत्पत्ति है, इस कारण सुखादिक इसके कार्य हैं, अतः एक लिंग-शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुखादिक हैं, किन्तु स्थूल शरीर की उपाधियों से नहीं होते; क्योंकि जब स्थूल शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब उसमें सुखादिक नहीं देखने में आते।

प्र०—सूक्ष्म शरीर का स्वरूप क्या है ?

उ०—सप्तदशैकं लिंगम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहङ्कार और पंचतन्मात्रा [रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द] यह सूक्ष्म शरीर है।

प्र०—यदि लिंग शरीर एक ही है, तो अनेक शरीरों की आकृति [चेष्टा] में भेद क्यों होता है ?

उ०—व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १० ॥

अर्थ—स्थूल शरीर अनेक प्रकार के अनेक कर्मों के करने से होते हैं। अब विचार किया जाता है, तो इससे यही बात सिद्ध होती है कि जीवों के भोग का हेतु कर्म ही है।

प्र०—जबकि भोगों के स्थान लिंग शरीर को ही शरीरत्व है तो स्थूल शरीर को शरीर क्यों कहते हैं ?

उ०—तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥ ११ ॥

अर्थ—पंचभूतात्मक [स्थूल] शरीर में उस लिंग शरीर का अधिष्ठान [रहने का स्थान] के सबब से देह वाद है, अर्थात लिंग शरीर का आश्रय स्थूल शरीर है, इसलिये स्थूल शरीर को शरीर कहते हैं।

प्र०—स्थूल शरीर लिंग शरीर से दूसरा है, इसमें क्या प्रमाण है।

उ०—न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ १२ ॥

अर्थ—वह लिंग शरीर विना किसी आश्रय के नहीं रह सकता, जैसे—छाया किसी आश्रय के विना नहीं रह सकती, और तसवीर विना आधार के नहीं खिंच सकती, इस तरह लिंग शरीर भी स्थूल शरीर के विना नहीं ठहर सकता है।

प्र०—यदि लिंग शरीर मूर्त्त द्रव्य है तो वायु आदि के समान उसका भी आधार आकाश हो सकता है, और जगह कल्पना करने से क्या तात्पर्य है ?

उ०—मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥

अर्थ—यदि लिङ्ग शरीर मूर्त्तत्व भी है तथापि वह किसी स्थान के बिना नहीं रह सकता, जैसे—बहुत से तेज इकट्ठे होकर बिना पार्थिव (पृथ्वी से पैदा होने वाले) द्रव्य के आधार के नहीं रह सकते, इस तरह लिंग शरीर भी बिना किसी आधार के नहीं रह सकता।

प्र०—लिंग-शरीर का परिमाण क्या है ?

उ०—अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥ १४ ॥

अर्थ—लिंग शरीर अणु परिमाण वाला अर्थात ढका हुआ है, बहुत अणु नहीं है; क्योंकि बहुत ही अणु (सूक्ष्म) अवयव रहित होता है, और लिंग शरीर अवयव वाला है। कारण यह है, कि लिंग शरीर के कार्य दीखते हैं, इसमें युक्ति भी प्रमाण है।

तदन्नम यत्वश्रुतेश्च ॥ १५ ॥

अर्थ—वह लिंग शरीर अन्नमय है, इस कारण अनित्य है; क्योंकि इस विषय में श्रुतियां प्रमाण देती हैं। "अन्नमयं हि सौम्य ! मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्।" हे सौम्य ! यह मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है। यद्यपि मन आदि कार्य भौतिक नहीं हैं, तथापि दूसरे के मेल से इनमें घटना-बढ़ना दीखता है, इस कारण से ही अन्नमय मन को माना है।

प्र०—यदि लिंग शरीर अचेतन है तो उसकी अनेक शरीरों के वास्ते उत्पत्ति क्यों है ?

उ० —पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥१६॥

अर्थ—लिंग शरीर की उत्पत्ति पुरुष के वास्ते है, जैसे—पाकशाला (भोजन बनाने की जगह) में रसोइये को अपने स्वामी के वास्ते जाना है, इस ही तरह लिंग शरीर का होना भी पुरुष के वास्ते है। लिंग शरीर का विचार हो चुका। अब स्थूल शरीर का विचार किया जाता है :—

पांचभौतिको देहः ॥ १७ ॥

अर्थ—यह शरीर पांचभौतिक कहलाता है, अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इनसे इसकी उत्पत्ति है।

चातुर्भौतिकमित्येके ॥ १८ ॥

कोई ऐसा कहते हैं, कि चार ही भूतों से स्थूल शरीर होता है क्योंकि आकाश तो अवयव रहित है, इस कारण आकाश किसी के साथ विकार को प्राप्त नहीं हो सकता है।

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥ १९ ॥

और कोई ऐसा कहते हैं कि यह स्थूल शरीर एक भौतिक है, अर्थात् शरीर पार्थिव (पृथ्वी का विकार है) और जो विशेष चार भूत हैं वे केवल नाम-मात्र ही हैं। या इस प्रकार जानना चहिये, कि एक-एक भूत के सब शरीर हैं। मनुष्यों के शरीर में पृथ्वी का अंश ज्यादा है, इस कारण यह शरीर पार्थिव है, और तैजस लोक वासियों में तेज ज्यादा है, इससे उनका शरीर तैजस है। शरीर स्वभाव से चैतन्य नहीं है, इस पक्ष को दूर करते हैं।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥ २० ॥

अर्थ—जब पृथ्वी आदि भूतों को भिन्न-भिन्न करते हैं, तब उनमें चेतन-शक्ति नहीं दीखती, अतः इससे सिद्ध होता है कि देह

स्वभाव से चैतन्य नहीं है, किन्तु किसी दूसरे चैतन्य के मेल से चैतन्य-शक्ति को धारण करती है।

प्रपंचमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥

अर्थ—यदि शरीर को स्वभाव से चैतन्य माना जाय, तो यह भी दोष हो सकता है कि प्रपंच, मरण, सुषुप्ति आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएं नहीं हो सकेंगी; क्योंकि जो देह स्वभाव से चैतन्य है, तो मृत्यु-काल में इसकी चेतन शक्ति कहां को भाग जाती है, और बीसवें सूत्र में जो यह बात कही है कि प्रत्येक भूत के भिन्न-भिन्न करने पर चेतनता नहीं दीखती, अब इस पक्ष को भी पुष्ट करते हैं।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

अर्थ—यदि मदिरा की शक्ति के समान माना जाय, जैसे—अनेक पदार्थों के मिलने से मादकता-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, इस ही तरह पांच भूतों के मिलने से शरीर में चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, ऐसा कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि मदिरा में जो मादक शक्ति है, वह शक्ति उन पदार्थों में भी है, जिनसे मदिरा बनी है। यदि यह कहा जाय कि हर एक भूत में थोड़ी चेतनता है और सब मिल कर बड़ी चेतनता हो जाती है, ऐसा कहना भी असत्य है, क्योंकि बहुत-सी चैतन्य-शक्तियों की कल्पना करने में गौरव हो जायगा, इस कारण एक ही चैतन्य-शक्ति का मानना योग्य है, और पहले जो इस बात को कह आये हैं कि लिंग शरीर की सृष्टि पुरुष के वास्ते है, लिंग शरीर का स्थूल शरीर में संचार भी पुरुष के वास्ते है, उसका तात्पर्य अब कहते हैं, जो अत्यन्त पुरुषार्थ का हेतु है।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥

अर्थ—लिंग शरीर में जो मन आदि हैं, उनसे ज्ञान उत्पन्न होता है, और ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

बन्धो विपर्ययात् ।' २४ ॥

अर्थ—विपर्यय नाम मिथ्याज्ञान का है, मिथ्याज्ञान से ही सुख-दुःख रूप बन्धन होता है। ज्ञान से मुक्ति और मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है, इस विषय को तो कह चुके, अब मुक्ति का विचार किया जाता है।

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस कारण मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है, इस वास्ते मुक्ति में ज्ञान और कर्म दोनों हेतु नहीं हो सकते; क्योंकि मुक्ति में इस बात का कोई विकल्प भी नहीं है, क्योंकि कर्म से मुक्ति हुई, या ज्ञान से, क्योंकि इसका तो ज्ञान ही नियत कारण, और इस बात को भी इस सूत्र से प्रत्यक्ष करते हैं।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—जैसे स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था इन दोनों में पहला तो प्रतिबिम्ब है, दूसरा सच्चा है। यह स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था दोनों आपस में विरुद्ध धर्म वाली हैं, अतः इस कारण एक वक्त में नहीं रह सकते, इसी तरह ज्ञान और कर्म भी एक वक्त में नहीं रह सकते हैं। बस इसी से सिद्ध हो गया कि विरुद्ध धर्म वाले पदार्थ न तो मिल सकते हैं, और न मुक्ति का हेतु हो सकते हैं, और न इस विषय पर विकल्प करना चाहिये, कि किससे मुक्ति होती है; क्योंकि मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है, और " न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन अमृतत्वमानशुः"

(कर्म से, सन्तान से, दान से, किसी ने अमृतत्व नहीं पाया है) इत्यादि श्रुतियां भी कर्म को मुक्ति का अहेतु कहती हैं।

प्र०—यदि कर्म का कुछ भी फल न रहा, तो कर्म का करना ही व्यर्थ है?

उ०—इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥ २७ ॥

अर्थ—कर्म का विशेष फल नहीं है, किन्तु सामान्य ही फल है। इस सूत्र में 'इतर' शब्द से कर्म का ग्रहण इसलिये हो सकता है कि इस प्रकरण में ज्ञान से मुक्ति होती है, कर्म से नहीं। इसी का प्रतिपादन करते चले आते हैं, इस वास्ते ज्ञान के अतिरिक्त कर्म का ही ग्रहण हो सकता है। यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान के अतिरिक्त अज्ञान का ग्रहण किया सो भी ठीक नहीं; क्योंकि इस सूत्र में आचार्य का अपि और नात्यन्तिक शब्द कहना कर्म से न्यून (कमती) फल का जताने वाला है, जब इतर से अज्ञान का ग्रहण किया जाय, तो ऐसा अर्थ होगा; कि अज्ञान का थोड़ा फल है बहुत नहीं, इससे थोड़े फल का अभिलाषी अज्ञान को ही उत्तम समझ सकता है, इस वास्ते ऐसा अनर्थ करना अच्छा नहीं। इससे आचार्य ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को उत्तम माना है। योगी के संकल्प-सिद्ध पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं, इस बात का आगे के सूत्र से और भी प्रत्यक्ष करेंगे।

संकल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

अर्थ—योगी के संकल्प किये हुए पदार्थ भी इसी प्रकार सच्चे हैं।

प्र०—जब कि योगी के संकल्पित पदार्थों का कोई कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता, तो वह मिथ्या क्यों नहीं?

उ०--भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२६॥

अर्थ—प्राणायामादिकों से योगियों की भावना अर्थात् ध्यान अधिक होता है इस वास्ते सब पदार्थ सिद्ध हैं, उनमें प्रत्यक्ष कारण देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम लोगों के समान योगियों के संकल्प झूठे नहीं होते, जैसे--प्रकृति बिना किसी का सहारा लिये महदादिकों को करती है, और उसमें प्रत्यक्ष कारण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, इसी प्रकार योगी का ज्ञान भी जानना चाहिये। पूर्वोक्त सूत्रों से यह बात सिद्ध हो गई कि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। अब ज्ञान किस तरह होता है; इस बात को आगे के सूत्रों से प्रत्यक्ष करेंगे।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्ञान के रोकने वाले रजोगुण के कार्य जो विषय-वासनादिक हैं उनका जिनसे नाश हो जाय, उसे ध्यान कहते हैं। यहां पर ध्यान शब्द से धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों का ग्रहण है;क्योंकि पतञ्जलिने योगके आठ अङ्गों को ही विवेक में साक्षात् हेतु माना है। इनके अवान्तर भेद भी उसी शास्त्र में विशेष मिलेंगे, बाकी पांच साधनों को आचार्य आप ही कहेंगे। अब ध्यान की सिद्धि के लक्षणों को कहते हैं :—

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥

जिसका ध्यान किया जावे, उसके अतिरिक्त वृत्तियों के निरोध से अर्थात् सम्प्रज्ञात योग से उसकी सिद्धि जानी जाती है, और ध्यान तब तक ही करना चाहिये जब तक ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) के सिवाय दूसरे की तरफ को चित्त की वृत्ति न जावे। अब ध्यान के साधनों को कहते हैं :—

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२ ॥

धारणा, आसन और अपने कर्म से ध्यान की सिद्धि होती है। प्रथम धारणा का लक्षण कहते हैं :—

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—छर्दि (वमन) और विधारण (त्याग) अर्थात प्राण का पूरक, रेचक, और कुम्भक से निरोध (वश में रखने) को धारणा कहते हैं। यद्यपि आचार्य ने धारणा शब्द का उच्चारण इस सूत्र में नहीं किया है तथापि आगे के दो सूत्रों में आसन और स्वकर्म का लक्षण किया है। इसी परिशेष से धारणा शब्द का अध्याहार इस सूत्र में कर लिया जाता है, जैसे—पाणिनि मुनि ने भी लाघव के वास्ते "लृट्, शेषे च" इत्यादि सूत्र कहे हैं। अब आसन का लक्षण कहते हैं :—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—स्थिर होने पर जो सुख का साधन हो, उसी का नाम आसन, जैसे—स्वस्तिका (पालकी) आदि स्थिर होने पर सुख के साधन होते हैं, तो उनको भी आसन कह सकते हैं। किसी विशेष पदार्थ का नाम आसन नहीं है। अब स्वकर्म का लक्षण कहते हैं :—

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो कर्म अपने आश्रम के वास्ते शास्त्रों ने प्रतिपादन किये हैं उनके अनुष्ठान को स्वकर्म कहते हैं। यहां पर कर्म शब्द से यम, नियम और प्रत्याहार इन तीनों को समझना चाहिये; क्योंकि इनका सब वर्णों के वास्ते समान सम्बन्ध है, और इन यमादिकों को योगशास्त्र में योग का अंग तथा ज्ञान का साधन भी माना है, और भी जो ज्ञान प्राप्ति में उपाय हैं, उनको भी कहेंगे :—

प्र०—यम किसको कहते हैं ?

उ०—अहिंसा (जीव का न मारना), सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (विषयों से बचना), इनका नाम यम है।

प्र०—नियम किसको कहते हैं ?

उ०—शुद्धि, सन्तुष्ट रहना, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना, वेदादि का पढ़ना, ईश्वरभक्ति इनको नियम कहते हैं।

प्र०—प्रत्याहार किसको कहते हैं ?

उ०—जिसमें चित्त इन्द्रियों सहित अपने विषय को त्याग कर ध्यानावस्थित हो जाय उसको प्रत्याहार कहते हैं।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—सांसारिक पदार्थों के विराग अथवा धारणादि पूर्वोक्त तीन साधनों के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है। यहां चकार का अर्थ पूर्वार्थ का समुच्चय और आरम्भित जो ' ज्ञानान्मुक्तिः" इस विषय के प्रतिपादन की समाप्ति के वास्ते है। इससे आगे "बन्धो विपर्ययात" इस पर विचार आरम्भ करते हैं :—

विपर्ययभेदाः पंच ॥ ३७ ॥

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश यह पांच योगशास्त्रों में कहे हुए बन्ध के हेतु विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) के अवान्तर भेद हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि करने का नाम अविद्या है। जिसमें आत्मा और अनात्मा का एकता मालूम होवे, जैसे—शरीर के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं, ऐसी बुद्धि का होना अस्मिता है—राग और द्वेष के तो लक्षण प्रसिद्ध ही हैं। मृत्यु से डरने का नाम अभिनिवेश है। यह पांचों बातें बद्ध जीव में होती

हैं, और इनका होना ही बन्धन का हेतु है। अब बुद्धि को बिगाड़नेवाली अशक्तियों के भेद कहते हैं—

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥ ३८ ॥

अर्थ—अशक्ति अट्ठाईस प्रकार की है, वह प्रकार अब कहते हैं। ग्यारह इन्द्रियों के विघात हो जाने से ग्यारह प्रकार की, और नौ प्रकार की तुष्टि, तथा आठ प्रकार की सिद्धि से बुद्धि का प्रतिकूल होना—यह सब मिलकर अट्ठाईस प्रकार की बुद्धि अशक्ति बुद्धि में होती है। इन्द्रियों का विघात इस तरह होता है, कि कान से सुनाई न देना, त्वचा में कोढ़ का हो जाना, आंखों से अंधा हो जाना इत्यादि ग्यारह इन्द्रियों का विषय होना तथा तुष्टि आदि के जो भेद जिस प्रकार कहे हैं, उनसे बुद्धि का विपरीत होना, अशक्ति का लक्षण है। जब तक बुद्धि में अशक्ति नहीं होती, तब तक अज्ञान भी नहीं होता। अब तुष्टि के भेद कहते हैं—

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—तुष्टि नौ प्रकार की है। इसका भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष आचार्य आगे के सूत्रों में आप ही करेंगे। अतः यहाँ व्याख्या लिखना व्यर्थ है।

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

अर्थ—सिद्धि आठ प्रकार की है, इसका प्रत्यक्ष भी आगे लिखेंगे। अब पूर्व कहे हुए विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के भेदों की व्याख्या आगे के चार सूत्रों में करेंगे।

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अवान्तर भेद जो सामान्य रीति से पूर्वाचार्यों ने किये हैं, उनको उसी तरह समझना

चाहिये, यहां विस्तारभय से नहीं कहे गये। अविद्यादिकों के जितने भेद हैं, उनकी विशेष व्याख्या विस्तारभय के कारण छोड़ दी है यदि कहे जावें तो कारिकाकार ने अविद्या के बासठ भेद माने हैं, जिसमें आठ-आठ प्रकार का तम और मोह, दश प्रकार का महामोह, अठारह प्रकार का तामिस्र और अठारह ही प्रकार का अन्धतामिस्र-यह सब मिलकर बासठ प्रकार के हुए। यदि इतने प्रकार के भेदों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की जावे, तो बड़ा भारी दफ्तर भरने को चाहिये; लेकिन हमारे विचार से इतने भेद मानना और उनकी व्याख्या करना केवल झगड़ा ही है।

एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार अशक्ति के भेद भी पूर्वाचार्यों के कथनानुसार समझने चाहिये।

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य—यह चार प्रकार के भेद होने से आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है और पाँच प्रकार की बाह्य विषयों से उपराम को प्राप्त होनेवाली तुष्टि है। एवम् आध्यात्मिकादि भेदों के होने से नौ प्रकार से है, कि जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृति का ही परिणाम है, और उसको प्रकृति ही करती है। मैं कूटस्थ हूं—ऐसी प्रकृति के संबन्ध में बुद्धि होने का नाम प्रकृति तुष्टि है, और जो संन्यासी होकर आश्रम ग्रहण रूपी उपादान से तुष्टि मानते हैं, वह उपादान तुष्टि है। जो संन्यासी होकर भी समाधि आदि अनुष्ठानों से बहुत समय में तुष्टि मानते हैं उसे काल तुष्टि कहते हैं, और उसके बाद धर्ममेघ समाधि में जो तुष्टि होती है, उसे भाग्य-तुष्टि कहते हैं। बाह्य पांच प्रकार की तुष्टि इस तरह है कि माला चन्दन, वनिता (स्त्री) आदि के प्राप्त करने में दुःख उत्पन्न होगा

ऐसा करके उनका त्याग कर देना, यह एक प्रकार की तुष्टि हुई। पैदा किये हुए धन को या तो चोर चुरा ले जायंगे या राजा दण्ड देकर छीन लेगा तो बड़ा भारी दुःख उत्पन्न होगा—ऐसा विचार कर जो त्यागना है, यह दूसरी तुष्टि है। यह धनादिक बड़े परिश्रम से संचय किया गया है, इसकी रक्षा करनी योग्य है, व्यर्थ न खोना चाहिये---ऐसा विचार करके जो विषय वासना से बचना है, इसको तीसरी तुष्टि कहते हैं। भोग के अभ्यास से काम वृद्धि होती है और विषय के न प्राप्त होने से कामियों को बड़ा भारी कष्ट होता है। ऐसा विचार कर जो भोगों से बचना है, यह चौथी तुष्टि का लक्षण है। हिंसा वा दोषों के देखने से उपराम हो जाना, पांचवीं तुष्टि का लक्षण है। यह पांच प्रकार की तुष्टियों की व्याख्या केवल उपलक्षण मात्र की गई है। इनकी अवधि यहां तक न समझकर इसी प्रकार की और भी तुष्टियाँ इन्हीं पाँच प्रकार की तुष्टियों में परिगणित कर लेनी चाहियें।

ऊहादिभिः सिद्धिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ऊह, शब्द, अध्ययन और तीनों प्रकार के दुःखों का नाश होना, मित्र का मिलना, दान करना---इस तरह आठ प्रकार की सिद्धि होती है। बिना किसी के उपदेश के पूर्वजन्म के संस्कारों से तत्व को अपने आप विचारने का नाम ऊह है। दूसरे से सुनकर वा अपने आप शास्त्र को विचार कर जो ज्ञान उत्पन्न किया है, उसका नाम शब्द है। शिष्य और आचार्य-भाव से शास्त्र पढ़कर ज्ञानवान् होने को अध्ययन कहते हैं। यदि कोई दयावान् अपने स्थान पर ही उपदेश देने आया हो, और उसी उपदेश से ज्ञान हो गया हो, इसको सुहृत्प्राप्ति कहते हैं और धन आदि देकर ज्ञान का जो प्राप्त करना है, उसको दान कहते हैं, और पूर्वोक्त आध्यात्मिक; आधिभौतिक, आधिदैविक, तीन

प्रकार के दुःखों के विवरण को शास्त्र के आदि में हम वर्णन कर चुके हैं।

प्र०—ऊह आदिकों से ही सिद्धि क्यों मानी जाती है? क्योंकि बहुतेरे मनुष्य मन्त्रों से अणिमादिक आठ सिद्धि मानते हैं, तब क्या उनका सिद्धान्त मिथ्या हो सकता है?

उ०—नेतरादितरहानेन विना ॥ ४५ ॥

अर्थ—ऊहादि पञ्चक के बिना मन्त्र आदिकों से तत्व की सिद्धि प्राप्त नहीं होती. क्योंकि वह सिद्धि इतर अर्थात् विपर्यय ज्ञान के बिना भी प्राप्त होती है; अतएव सांसारिकी सिद्धि होने के कारण यह पारमार्थिकी नहीं कहला सकती। बस यहां तक समष्टिसर्ग और प्रत्ययसर्ग समाप्त हो गया, इससे आगे "व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्" इस संक्षेप से कहे हुए सूत्र को विशेष रूप से प्रतिपादन करेंगे।

दैवादिप्रभेदाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—दैव आदि सृष्टि के प्रभेद हैं,अर्थात् एक दैवी सृष्टि, दूसरी मनुष्यों की सृष्टि है। यहां पर दैव और मनुष्यों के कहने से यह न समझना चाहिये कि देवता जैसे और साधारण मनुष्य मानते हैं, वही हैं, किन्तु विद्वानों का नाम देव है और जो मिथ्या बोलते हैं वे मनुष्य हैं। किन्नर, गन्धर्व, पिशाच आदि यह सब मनुष्यों के ही भेद हैं जैसा कि श्रुतियां कहती हैं।

"सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः, विद्वाꣳसो हि देवाः" इत्यादि। और महर्षि कपिलजी को भी यही बात अभीष्ट (मंजूर) है, जैसा कि उन्होंने आगे ५३ वें सूत्र में प्रतिपादन किया है। अब सृष्टि का प्रयोग कहते हैं—

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७ ॥

अर्थ —ब्राह्मणों से लेकर स्थावरादि तक जितनी सृष्टि है, वह सर्व पुरुष के वास्ते है, और उसे भी विवेक के होने तक ही सृष्टि रहती है, बाद को मुक्ति होने से छूट जाती है। अब तीन सूत्रों से सृष्टि के विभाग को कहते हैं—

ऊर्ध्वं सत्वविशाला ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो सृष्टि ऊपर है, वह सत्व-प्रधान है। यहां पर ऊपर कहने से आचार्य का प्रयोजन ज्ञान के मार्ग से उन्नति करने वालों से है अर्थात् सतोगुणी उन्नति करते हैं, क्योंकि सतोगुण प्रकाश करता है, इस कारण सतोगुणी अर्थात ज्ञानी लोग सदा उन्नति करते हैं, इस कारण ऊपर जाते हैं।

तमोविशाला मूलतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—तमोगुणी अन्तःकरण वाले जीव नीच गति अर्थात् पशु-पत्ती और कीड़े आदि की योनियों को प्राप्त होते हैं।

मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥

अर्थ—और बीच में जो शरीर है, वे रजोगुण प्रधान हैं। बीच का शरीर सामान्य मनुष्य का जन्म है और सब शरीर इसकी अपेक्षा ऊंचे हैं, या नीचे। सामान्य मनुष्य रजोगुणी होता है। सत्पुरुष सतोगुणी, पशु आदि तमोगुणी। इसके अन्दर भी भेद हैं।

प्र०—प्रकृति तो एक ही है, लेकिन सृष्टि अनेक तरह की क्यों होती है?

उ०—कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥५१॥

अर्थ—यह सब प्रधान अर्थात् प्रकृति की चेष्टा कर्मों की विचित्रता से होती है, इसमें दृष्टान्त भी है, जैसे—कोई दासी

अपने स्वामी के वास्ते नाना प्रकार की चेष्टा (टहल) करती है, वैसे ही उसका पुत्र भी अपने स्वामी के प्रसन्नतार्थ नाना प्रकार की चेष्टा करने लगता है, अतएव जो जैसा कर्म करेगा उसकी सृष्टि भी वैसा ही कर्म करेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्र०—ऊर्ध्व की सृष्टि सत्वगुण प्रधान है, तो मनुष्य उसी से कृतार्थ हो सकता है, फिर मोक्ष से क्या करना है ?

उ०—आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥

अर्थ—उन ऊपर के और नीचे के देशों में आवृत्ति योग रहता है, अर्थात् जब वहाँ गये तब सात्विकी वृत्ति रही, और यहाँ रहे तब वही रजोगुण फिर आगया और वहाँ भी छोटी बड़ी जातियां होती हैं; उनमें जन्म होने से ठीक-ठीक सत्व नहीं रहता; इस वास्ते ऐसा विचार करना सब तरह छोड़ने योग्य है। और भी इस पक्ष की पुष्टि करते हैं।

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

किसी शरीर में हों, चाहे देवता हों, चाहे सामान्य मनुष्य अथवा पशु, पक्षी—बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख सब में होता है; इस कारण सब शरीरों की अपेक्षा मुक्त होना ही उत्तम है।

प्र०—जिससे यह शरीर उत्पन्न हुआ है, यदि उसी में लय हो जाय, तब क्या मुक्ति नहीं मानी जायगी ?

उ०—न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥५४॥

अर्थ—कारण में लय हो जाने से भी कृतकृत्यता नहीं होती, क्योंकि जैसे मनुष्य जब जल में डूबता है, तो कभी तो ऊपर को आता है, और कभी नीचे को बैठ जाता है। इसी तरह जो मनुष्य कारण में लय हो गया है, कभी जन्म को प्राप्त होता

है, कभी मरण को प्राप्त होता है, और ऐसा कहने से आचार्य का यह तात्पर्य नहीं है कि मुक्त-जीव कभी जन्म को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि प्रथम तो आचार्य जीव को नित्य मानते हैं, जब उसका कारण ही नहीं तो लय किसमें होगा। दूसरे जो डूबे हुए का दृष्टान्त दिया, अशान्ति का पोषक दिया तथा इस में पराधीनता दिखाई; किन्तु मुक्त-जीव तो न अशान्त है न पराये आधीन है। तीसरे यहां पर सृष्टि का प्रसंग चला आता है, किन्तु जीव का विषय भी नहीं है; इसलिये अन्तःकरण के सुषुप्ति में प्रकृति में लय होने से तात्पर्य्य है।

प्र०—जबकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं, तो प्रकृति ही में सृष्टि का कर्तृत्व क्यों माना जाता है?

उ०—अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों अकार्य अर्थात् नित्य तथापि प्रकृति को ही सृष्टि करने का योग है; क्योंकि जो परवश होगा वही तो कार्य को करेगा, इस विचार से प्रकृति ही में परवशता दीखती है।

प्र०—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ ५६ ॥

अर्थ—यदि प्रकृतिरूपी पदार्थ को सर्वज्ञ और सर्ववित ("विद् सत्तायाम्" इस धातु का प्रयोग है) सर्वशक्तिमान् मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उ०—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस तरह वेद के प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है। प्रकृति में सर्वज्ञत्वादि गुण तो किसी सूरत में नहीं हो सकते हैं, सर्वज्ञत्वादि गुण तो ईश्वर ही में हैं।

प्र०—प्रकृति ने सृष्टि को क्यों पैदा किया?

उ०—प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—प्रधान जो सृष्टि है उसकी सृष्टि दूसरे के वास्ते है; क्योंकि वह स्वयं भोग नहीं कर सकती। दृष्टान्त—जैसे कि ऊंट केशर को अपने ऊपर लादकर पराये वास्ते ले जाता है लेकिन उस केशर से अपना कुछ स्वार्थ नहीं रखता। इसी प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरे के वास्ते है।

प्र०—ऊंट का जो दृष्टांत दिया गया सो ऊंट चेतन है, और चेतन की चेष्टा दूसरे के वास्ते हो सकती है, लेकिन जड़ की नहीं हो सकती ?

उ०—अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५६॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अचेतन है, तथापि उसकी प्रवृत्ति दूसरे के वास्ते है। दृष्टान्त—जैसे कि दूध जड़ है लेकिन उसकी प्रवृत्ति चैतन्य बछड़ा आदि के वास्ते है। और भी दृष्टान्त है—

कर्म्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥ ६० ॥

अर्थ—जैसेकि खेती के करने में बीज बोया जाता है, वह अपनी ऋतु के समय में वृक्षरूप को धारण कर दूसरों के उपकारार्थ फल देता है; इसी प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरों के वास्ते है।

प्र०—ऊंट तो पिटने के डर से केशर को लादकर ले जाता है, लेकिन प्रकृति को तो किसी का डर नहीं है ?

उ०—स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जैसे चतुर सेवक अपने स्वामी का सब काम करता है, और उसमें अपने स्वार्थ का कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता,

इसी तरह प्रकृति भी अपने आप सृष्टि करती है, पुरुष के भय प्रेरणादिक की अपेक्षा नहीं करती।

कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः ॥ ६२ ॥

अर्थ--अथवा कर्मों के अनादि प्रवाह के वश होकर प्रकृति सृष्टि को करती है।

अब इससे आगे सृष्टि की निवृत्ति के कारणों को कहेंगे :—

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥६३॥

अर्थ—जब विविक्त बोध अर्थात् एकान्त ज्ञान हो जाता है, तब प्रकृति की सृष्टि निवृत्त हो जाती है, जैसे—रसोइया भोजन बनाकर निश्चिन्त हो जाता है, फिर उसको कोई काम विशेष नहीं रहता। इसी तरह प्रकृति भी विवेक (ज्ञान) को उत्पन्न करके अपनी सृष्टि को निवृत्त कर देती है। आशय यह है कि ज्ञान होने से संसार छूट जाता है।

प्र०—जबकि एक को ज्ञान हुआ और उससे सृष्टि की निवृत्ति हो गई, तो फिर विशेष जीव बद्ध क्यों रहते हैं? क्योंकि सृष्टि की निवृत्ति में बन्धन न रहना चाहिये।

उ०—इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जो विवेक (ज्ञान) रहित है, वह बद्ध के बराबर है, क्योंकि अज्ञान के दोष से बंधा रहना ही पड़ता है।

अब सृष्टि-निवृत्ति का फल कहते हैं :—

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष इन दोनों की आपस में उदासीनता का होना ही मुक्ति कहलाता है। दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है,

कि ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों में से एक के वास्ते प्रकृति की उदासीनता ही को अपवर्ग मुक्ति कहते हैं।

प्र०—जबकि विवेक के कारण प्रकृति पुरुष को मुक्त कर देती है, तो और भी पुरुष विवेक से मुक्त हो जायेंगे, ऐसा विचार कर प्रकृति विवेक के डर के मारे सृष्टि करने से विरक्त क्यों नहीं होती ?

उ०——अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जु-तत्वस्येवोरगः ॥ ६६ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति एक मनुष्य के ज्ञानी होने से उसके वास्ते सृष्टि से विमुक्त हो जाती है, तथापि दूसरे अज्ञानी के वास्ते प्रकृति सृष्टि करने से विमुख नहीं होती। दृष्टान्त—जैसे कि किसी मनुष्य ने रस्सी को देखा, उस रस्सी को देख कर उसको प्रथम सांप की भ्रान्ति हुई और भय मालूम पड़ा। बाद को जब उसने विचार करके देखा, तो उसको यथार्थ ज्ञान हो गया कि यह सांप नहीं है किन्तु रस्सी है। जब उसको आनन्द हो गया, तब वह रस्सी उस ज्ञानी को फिर भय नहीं देती, किन्तु जो अज्ञानी है उसे तो सांप की भ्रान्ति भय देती ही है। इसी प्रकार प्रकृति की भी व्यवस्था है कि जो विवेकी है उसके वास्ते इसकी सृष्टि नहीं है, किन्तु अविवेकी के वास्ते है।

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥

अर्थ—सृष्टि के प्रवाह में जो कर्म हेतु हैं उनके कारण भी प्रकृति सृष्टि करने से विमुख नहीं होती और मुक्त मनुष्य के कर्म छूट जाते हैं; इस कारण उसके वास्ते सृष्टि शान्त हो जाती है।

प्र०—जब सब मनुष्य समान और निरपेक्ष हैं, तो किसी के

वास्ते प्रकृति सृष्टि की निवृत्ति और किसी के वास्ते प्रवृत्ति हो इसमें क्या नियम है ?

उ०—कर्म का प्रवाह ही इसमें नियम है ।

प्र०—यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि न मालूम किस मनुष्य का कौन-सा कर्म है ? यह भी कोई निश्चय किया हुआ नियम नहीं है ?

उ०—नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८॥

अर्थ—यद्यपि सब पुरुष निरपेक्ष हैं, अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता तथापि यह मेरा स्वामी है, मैं इसका सेवक हूं; इस तरह प्रकृति के उपकार में (सृष्टि करने में) अविवेक ही निमित्त है । प्रत्यक्ष यह है कि जब प्रकृति यह बात चाहती है, कि मनुष्य मुक्त हो, तब ही उसको अपनी सृष्टि के भीतर रखकर अनेक प्रकार के कार्यों में लगा देती है, और उन्हीं कार्यों को करता हुआ वह मनुष्य किसी न किसी जन्म में विवेकी (ज्ञानी) होकर मुक्त हो जाता है. इसी वास्ते आचार्य ने सूत्र में उपकार शब्द को स्थापित किया है ।

प्र०—जब कि प्रकृति का स्वभाव वर्तमान मान लिया है, तो ज्ञान के उत्पन्न होने पर क्यों निवृत्ति हो जाती है ? क्योंकि जो जिसका स्वाभाविक धर्म है, वह सब जगह एक-सा रहना चाहिये ।

उ०—नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

अर्थ—जैसे नाच करने वाली का नाच करना स्वभाव है वह सब सभा को नाच दिखाती है, और जब नाच करते-करते उसके

मनोरथ पूरे हो जाते हैं, तब वह नाच करने से निवृत्त हो जाती हैं, इसी तरह यद्यपि प्रकृति का सृष्टि करना स्वभाव है, परन्तु उस सृष्टि करने का जो प्रयोजन है वह विवेक के उत्पन्न होने से निवृत्त हो जाता है, अतएव उससे निवृत्ति भी हो जाती है।

अब मुक्ति से पुनरागमन होता है या नहीं, इस पर यहां इस कारण विचार किया जाता है कि इस ऊपर के सूत्र में विवेक के उपरान्त सृष्टि की निवृत्ति प्रतिपादन कर चुके और इस पर यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति यह समझ लेती होगी कि पुरुष को मेरे संयोग से अनेक दुःखादि होते हैं, अतएव फिर उसका संयोग किसी काल में न करना चाहिये। इसी मत पर तो आचार्य विचार करते हैं।

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

अर्थ—पुरुष को मेरे संयोग से दुःख होगा, इस बात में प्रकृति अपना दोष जानती है, तो फिर उसका संयोग नहीं करती, किन्तु अवश्य करती है, जैसे—अच्छे वंश की पतिव्रता स्त्री से यदि कोई दोष हो भी जाय, और उससे स्वामी को कष्ट भी पहुंचे, तब क्या वह अपने पति के पास का जाना छोड़ देगी? ऐसा नहीं हो सकता, अवश्य जायगी; क्योंकि जो पति को त्यागती है, तो उसका पतिव्रत धर्म नष्ट होता है। और भी प्रकार से अन्य आचार्यों ने इस सूत्र का अर्थ किया है कि जब प्रकृति अपना दोष जान लेती है तब लज्जा के वश होकर फिर कभी पुरुष के पास नहीं जाती, जैसे कुलवधू नहीं जाती। इस अर्थ के करने से उनका तात्पर्य यह है, कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं; क्योंकि विज्ञानभिक्षु ने "अपि" शब्द का कुछ भी आशय नहीं निकाला, और न यह समझा

कि जो अपने दोष से पति को छोड़ दे, वह कुलवधू कैसे हो सकती है। कुलवधू वही होती है, जो अपने दोष को स्वामी से क्षमा करा कर अपने स्वामी की सेवा में तत्पर (लगी) रहे; किन्तु अन्य टीकाकारों ने इस दृष्टान्त के गूढ़ आशय को बिना समझे जो लिख दिया है, सो योग्य नहीं है अथवा आचार्य्य को यही बात माननीय थी कि मुक्ति से फिर नहीं लौटता, तो इनसे पहिले सूत्र में इस बात को एक दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन कर ही चुके थे, फिर इस सूत्र को बनाकर पुनरुक्ति क्यों करते। इसी ज्ञापक से सिद्ध है कि मुक्ति से फिर लौट आता है, लेकिन इस पुनरुक्ति को अन्य आचार्य नहीं समझे।

पुरुष का बन्ध और मोक्ष किससे होता है ? इस बात का विचार करते हैं।

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१ ॥

अर्थ—पुरुष को बन्ध मोक्ष स्वाभाविक नहीं है, किन्तु अविवेक ही से होते हैं।

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससंगत्वात् पशुवत् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जब विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है, कि प्रकृति का संयोग पुरुष को रहता है, उसी से पुरुष का बन्ध है। प्रकृति का संयोग छूटना ही मोक्ष है, जैसे पशु रस्सी के संयोग से बंध जाता है; और उसका संयोग छूट जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है; इसी तरह मनुष्य को भी जानना चाहिये।

प्र०—प्रकृति कौन-से साधनों से बन्धन करती है, और कैसे मुक्त करती है ?

उ०—**रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ॥ ७३ ॥**

अर्थ—धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और

अनैश्वर्य—इन सात रूपों से प्रकृति पुरुष का बन्धन करती है, जैसे—तलवार के म्यान बनाने वाले की कारीगरी से तलवार ढकी रहती है, इसी तरह प्रकृति से पुरुष को भी समझना चाहिये, और वही प्रकृति ज्ञान से आत्मा को दुःखों से मुक्त कर देती है।

प्र०—जब मुक्ति में हेतु ज्ञान कहा, और धर्म्मादिक सब बन्धन के हेतु कहे, तो धर्म में क्यों किसी की प्रवृत्ति होगी, और क्यों ध्यानादि के वास्ते उपाय किया जावेगा ?

उ०—निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥७४॥

अर्थ—मुक्ति के न होने में अज्ञान ही (अविवेक) निमित्त है, इस वास्ते उसकी निवृत्ति ही के वास्ते यत्न करना चाहिये और उस यत्न में धर्म्मानुष्ठान आदि चित्तशोधक कर्म भी परिगणित हैं, अतः उसकी हानि नहीं हो सकती; क्योंकि विना धर्म ध्यान आदि किये, कोई भी ज्ञानवान् हो ही नहीं सकता।

अब विवेक कैसे होता है, उसका उपाय कहते हैं :—

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥७५॥

अर्थ— देह आत्मा नहीं है, पुत्र आत्मा नहीं है, इन्द्रियां आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है। इस प्रकार नेति-नेति करके त्याग से और तत्त्वाभ्यास करने से विवेक की सिद्धि हो जाती है। श्रुति भी इसी आशय को कहती है, अर्थात् "आदेशो नेति नेतीति त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।"

अधिकारप्रभेदान्न नियमः ॥ ७६ ॥

अर्थ—कोई मूर्ख बुद्धि वाले होते हैं, कोई विलक्षण (श्रेष्ठ) बुद्धि वाले होते हैं। इस कारण एक ही जन्म में सब को विवेक

(ज्ञान) हो जावे, यह नियम नहीं है, किन्तु श्रेष्ठ अधिकारी एक जन्म में भी विवेकी हो सकता है।

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिसको विवेक साक्षात्कार हो भी गया है, उसको भी कर्मों का भोग भोगना होगा ही, क्योंकि यद्यपि कर्म एक बार बाधित भी कर दिये जाते हैं तथापि उनकी अनुवृत्ति होती है। प्रारब्ध आदि संज्ञा वाले कर्म सर्वथा विनाश को प्राप्त नहीं होते।

जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

अर्थ—जब विवेक हो जाता है तब शरीर की मौजूदगी में भी मुक्त हो सकता है; उसको ही जीवन्मुक्त कहते हैं। अब जीवन्मुक्त होने का उपाय भी कहते हैं।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जब शिष्य बनकर गुरु के मुख से शास्त्रों को पढ़ेगा और विचार करने से विवेक की उत्पत्ति हो जावेगी, तो जीवन मुक्त होना कुछ कठिन बात नहीं है। बिना गुरु द्वारा उपदेश के जीवन्मुक्त नहीं हो सकता। इसी विषय को श्रुति भी प्रतिपादन करती है।

श्रुतिश्च ॥ ८० ॥

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपासन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाचतान्तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।"

अर्थ—जबकि जिज्ञासु पुरुष को सत्य के जानने की अभिलाषा हो, उस समय समित्पाणि अर्थात् पुष्पादिक हाथ में लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ (वेद के जानने वाले) गुरु की शरण ले, फिर उस महात्मा गुरु को चाहिये कि ऐसे शिष्य को धोखे में न डाले, और

वह उपदेश करना चाहिये, जिस कारण से वह शिष्य सत्यमार्ग को प्राप्त हो जाय।

प्र०—ब्रह्मनिष्ठ गुरु की ही शरण क्यों ले और भी तो बहुतेरे होते हैं?

उ०—इतरथान्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

यदि ज्ञानवान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ज्ञान न लिया जावे, तो क्या मूर्खों से लिया जायगा, फिर तो अन्ध-परम्परा गिनी जायेगी, जैसे—एक अन्धा कुवें में गिरा, तो सब ही अन्धे कुवें में गिर पड़े; इसी प्रकार मूर्ख की शरण लेने से सब मूर्ख रह जाते हैं।

प्र०—जब ज्ञान से कर्म नाश हो जाते हैं, तो फिर शरीर क्यों रहता है और उसकी जीवन्मुक्त संज्ञा कैसे होती है?

उ०—चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे कुम्हार का चाक भोलुआ इत्यादि के बनाने के समय दंड से चलाया जाता है और कुम्हार बर्तनों को बना कर उतार भी लेता है, लेकिन उस चलाने का ऐसा वेग होता है कि पीछे बहुत देर तक वह चक्र घूमता रहता है; इसी तरह ज्ञान के उत्पन्न होते ही यद्यपि नये कर्म उत्पन्न नहीं होते तथापि प्रारब्ध कर्मों के वेग से शरीर को धारण किये हुए जीवन्मुक्त रहता है।

प्र०—यद्यपि चक्र के घूमने में दण्डे की कोई ताड़ना उस समय नहीं है, तो भी वह पहिली ताड़ना के कारण से चलता है, किन्तु जब जीवन्मुक्त के सब रागादि नाश हो जाते हैं, तो वह उपभोग किसके सहारे से करता है?

उ०—संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥

अर्थ—रागादिकों के संस्कार का भी लेश रहता है, उसी के

सहारे से उपभोग की सिद्धि जीवन्मुक्त को हो जाती है, वास्तविक राग जीवन्मुक्त को नहीं रहते। यह सब जीवन्मुक्त के विषय में कहा। अब विना देह की मुक्ति के वास्ते अपना परम सिद्धान्त कहकर अध्याय को समाप्त करते हैं।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥

अर्थ—विवेक ही से सब दुःख दूर होते हैं, तब जीव कृतकृत्य होता है, दूसरे से नहीं होता, नहीं होता। पुनरुक्ति अर्थात् 'नेतरात्' इसका दुबारा कहना पक्ष की पुष्टि और अध्याय की समाप्ति के वास्ते है।

इति सांख्यदर्शने तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

इस अध्याय में विवेक (ज्ञान) के साधनों का वर्णन करेंगे--

राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात् ॥ १ ॥

अर्थ--पूर्व सूत्र से यहां विवेक की अनुवृत्ति आती है। राजा के पुत्र के समान तत्त्वोपदेश होने से विवेक होता है। यहाँ यह कथा है कि कोई राजा का पुत्र गंडमाला रोग से युक्त उत्पन्न हुआ था, इस कारण वह शहर में से निकाल दिया गया और उसको किसी शबर (भील) ने पाल लिया। जब वह बड़ा हो गया, तब अपने को भी शबर मानने लगा। कालान्तर में (कुछ दिनों के बाद) उस राजपुत्र को जीता हुआ देखकर कोई

वृद्ध मन्त्री बोला--हे वत्स (पुत्र) तू शबर नहीं है किन्तु राजपुत्र है, ऐसे वाक्यों को सुनकर वह राजपुत्र शीघ्र ही उस शबरभाव के मान को त्याग कर सात्विक राजभाव को धारण करने लगा कि मैं तो राजा हूं। इस प्रकार चिरबद्ध जीव भी अपने को बद्ध मानता है और जब तत्त्वोपदेश से उसको ईश्वर विषयक ज्ञान होता है, तब विवेकोत्पत्ति से उसको मुक्ति प्राप्त होती है। इस सूत्र के अर्थ से कोई-कोई टीकाकार "ब्रह्मास्मि" वाला सिद्धान्त निकालते हैं कि जीव पहिले ब्रह्म था, इस कारण मुक्त था किन्तु अज्ञान से बंध गया है, जब तत्त्वोपदेश हुआ तो विवेक होने से मुक्ति हो गई। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि पहिले तो ग्रन्थ के आरम्भ में इस बात का खण्डन किया है, दूसरे सूत्र में जो राजपुत्र ऐसा शब्द कहा है उससे प्रत्यक्ष मालूम होता है कि आचार्य जीव और ब्रह्म में भेद मानते हैं, इस वास्ते जीव को छोटा मान कर 'राजपुत्रवत्' ऐसा कहा है, नहीं तो राजवत् ऐसा ही कह देते, किन्तु दो अक्षरों का अधिक कहना इसी आशय से है कि कोई एक ब्रह्म के रूपान्तर का अर्थ न समझ ले।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥

अर्थ--एक के वास्ते जो उपदेश किया जाता है, उससे दूसरा भी मुक्त हो जाता है, जैसे—एक समय श्रीकृष्ण जी अर्जुन को उपदेश कर रहे थे, लेकिन एक पिशाच भी सुन रहा था, वह पिशाच उस उपदेश को सुनकर उसके अनुष्ठान द्वारा मुक्ति को प्राप्त हो गया।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३ ॥

अर्थ—यदि एक बार के उपदेश से विवेक-प्राप्ति न हो, तो फिर उपदेश करना चाहिये, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा

है कि श्वेतकेतु के वास्ते आरुणि आदि मुनियों ने वारम्बार उपदेश किया था।

पितापुत्रवदुभयो दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थ—विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते हैं। दृष्टान्त—कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़कर परदेश गया था, जब वह आया देखता क्या है कि पुत्र उत्पन्न होकर पूरा युवा हो गया लेकिन न तो वह पुत्र जानता है कि यही मेरा पिता है और न वह पुरुष जानता है कि यही मेरा पुत्र है, तब उस स्त्री ने दोनों को प्रबोध (ज्ञान) कराया कि यह तेरा पिता है, तू इसका पुत्र है। इसी तरह विवेक भी प्रकृति और पुरुष का जनाने वाला है।

श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार का यह नियम है कि जब-जब द्रव्य-प्राप्ति होती है, तब-तब तो आनन्द, और जब वह द्रव्य चला जाता है तब ही दुःख होता है। दृष्टान्त—कोई श्येन (बाज) किसी पक्षी का मांस लिये चला जाता था, उसी समय किसी व्याध ने पकड़ लिया और उससे वह मांस छीन लिया, तो वह अत्यन्त दुःखी होने लगा। यदि आप ही उस मांस को त्याग देता तो क्यों दुःख भोगता ? इस कारण आप ही विषय वासना इत्यादि का त्याग कर देना चाहिये।

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे सांप पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, इसी तरह मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा करने वाले) को विषय त्याग देने चाहियें।

छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

अर्थ--जैसे किसी मनुष्य का हाथ कटकर गिर पड़ता है, फिर वह कटे हुए हाथ से किसी तरह का संबंध नहीं रखता, इसी तरह विवेक प्राप्ति होने पर जब विषय वासना नष्ट हो जाती है, तब मुमुक्षु फिर उन विषय-वासनाओं से कुछ संबन्ध नहीं रखता है।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मोक्ष का साधन नहीं है लेकिन धर्म गिनकर साधन वर्णन कर दिया तो उसका जो विचार है, वह केवल बंधन का ही कारण होगा, न कि मोक्ष का। दृष्टान्त—जैसे राजर्षि भरत यद्यपि मोक्ष की इच्छा करने वाले थे लेकिन किसी ने कोई अनाथ हरिण का बच्चा महात्मा को पालने के लिये दे दिया, और उस अनाथ हरिण के बच्चे के पालन-पोषण में महात्मा के विवेक-प्राप्ति का समय नष्ट हो गया और मुक्ति न हुई। यद्यपि अनाथ का पालन राजा का धर्म था तथापि पालने के विचार में महात्मा से विवेक साधन न हो सका, इस वास्ते बंध का हेतु हो गया। इसी वास्ते कहते हैं कि धर्म कोई और वस्तु है और विवेक साधन कुछ और वस्तु है।

बहुभिर्योगे विरोधी रागादिभिः कुमारीशंखवत् ॥ ९ ॥

अर्थ—विवेक-साधन के समय बहुतों का संग न करे, किन्तु अकेले ही विवेक-साधन को करे, क्योंकि बहुतों के साथ में राग-द्वेषादि की प्राप्ति होती है, उससे साधन में विघ्न होने का भय प्राप्त हो जाता है। दृष्टान्त—जैसे कि कोई कुमारी (कन्या) हाथों में चूड़ियाँ पहन रही थी; जब दूसरी कन्या के साथ उसका मेल हुआ, तब आपस में धक्का लगकर चूड़ियों का झनकार शब्द हुआ, इसी तरह यहाँ भी विचारना चाहिये कि बहुतों के संग में विवेक साधन नहीं हो सकता।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥ १० ॥

अर्थ—दो के साथ भी विवेक साधन नहीं हो सकता क्योंकि दो आदमियों में भी राग-द्वेषादि का होना सम्भव है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो मनुष्य आशा को त्याग देता है, वह सदैव पिंगला नाम वेश्या के समान सुख को प्राप्त होता है। दृष्टान्त—पिंगला नाम वाली एक वेश्या थी, उसको जार मनुष्यों के आने का समय देखते-देखते बहुत रात बीत गई लेकिन कोई विषयी उसके पास न आया, तब वह जाकर सो रही, बाद को फिर उस वेश्या को ख्याल हुआ—शायद अब कोई आदमी आवे, ऐसा विचार कर वह वेश्या फिर उठ आई और बहुत समय तक फिर जागती रही लेकिन फिर भी कोई न आया, तब उस वेश्या ने अपने चित्त में बड़ी ग्लानि मानी और कहा कि "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्" आशा बड़े दुःख देती है, और नैराश्य में बड़ा भारी सुख है, ऐसा विचार कर उस वेश्या ने उस दिन से आशा त्याग दी और परम सुख को प्राप्त हुई। इसी तरह जो मनुष्य आशा को त्यागेंगे वे परम सुख को प्राप्त होंगे।

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

अर्थ—गृहादिकों के बिना बनाये भी पराये घर में सुखपूर्वक रह सकता है, जैसे—सांप पराये घर में सुख-पूर्वक वास करता है।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—बहुत से शास्त्रों से और गुरुओं से सार वस्तु जो विवेक

का साधन है उस ही को लेना चाहिये जैसे—भौंरा फूलों का जो सार मधु है उसको ग्रहण करता है; इसी तरह सार का लेना योग्य है।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसका मन एकाग्र रहता है, उसकी समाधि में किसी समय किसी प्रकार की भी हानि नहीं हो सकती। दृष्टांत—कोई बाण बनानेवाला अपने स्थल पर बैठा हुआ बाण बना रहा था, उसी समय उसकी बगल से होकर कटक सहित राजा निकल गया लेकिन उसको न मालूम हुआ कौन चला गया, और उसके काम में भी किसी प्रकार की बाधा न हुई क्योंकि उसका मन अपने काम में आसक्त था।

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ॥ १५ ॥

अर्थ—शौच, आचार आदि जो नियम विवेक की वृद्धि के वास्ते माने गये हैं, उनके लंघन से अर्थात् ठीक तौर से न पालने पर अनर्थ होता है और उन नियमों का फिर कुछ भी फल नहीं होता, जैसेकि रोगी के लाभ के वास्ते वैद्य ने पथ्य बताया लेकिन उसने कुछ पथ्य न किया, उसको कुछ फल अच्छा न होगा किन्तु रोग वृद्धि को ही प्राप्त होगा।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—तत्वज्ञान के भूलने से दुःख प्राप्त होता है। दृष्टान्त—कोई राजा शिकार खेलने के वास्ते वन को गया था, वहां पर उस राजा ने दिव्यस्वरूप एक कन्या को देखा, और उस कन्या को देखकर राजा मोहित हो गया और बोला, कन्ये! तुम कौन हो? वह बोली राजन्! मैं भेकराज (मेढकों के राजा) की कन्या हूं। तब राजा अपनी स्त्री होने के वास्ते उससे प्रार्थना

करने लगा, तब वह कन्या बोली, राजन्! अगर मुझको जल का दर्शन हो जायगा, तब ही मैं तेरा साथ छोड़ दूंगी; इस वास्ते मुझको जल का दर्शन न होना चाहिये, यह मेरा नियम पालन करना होगा। राजा ने प्रसन्न होकर इस बात को स्वीकार कर लिया। एक समय वह दोनों आनन्द में आसक्त थे, तब वह कन्या राजा से बोली कहीं जल है, तब राजा ने उस बात को भूल कर उसको जल दिखा दिया। जल दर्शन के समय ही वह कन्या उस रूप को छोड़कर जल में प्रवेश कर गई। तब राजा ने दुःखी होकर उस कन्या को जल के अन्दर बहुत देखा लेकिन वह फिर न प्राप्त हुई, जैसे-यह राजा उस तत्त्व बात को भूल कर दुःख को प्राप्त हुआ, इसी तरह मनुष्य भी तत्वज्ञान के भूलने से दुःख को प्राप्त होता है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १७ ॥

अर्थ—उपदेश के सुनने ही मात्र से कृतकृत्यता नहीं होती जब तक कि उसका विचार न किया जाय। दृष्टान्त—बृहस्पति जी ने विरोचन और इन्द्र इन दोनों को सत्योपदेश किया था। इन्द्र ने उस उपदेश को सुनकर विचारा भी, परन्तु विरोचन ने न विचारा, किन्तु कान ही पवित्र किये।

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—देखने में आया है कि उस श्रवण से इन्द्र को ही विवेक ज्ञान हुआ, विरोचन को नहीं; क्योंकि इन्द्र ने तो उस उपदेश का विचार किया था।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥ १९ ॥

अर्थ—गुरु से नम्र रहना, सदा गुरु की सेवा करना, ब्रह्मचर्य को धारण करना, और वेद पढ़ने के वास्ते गुरु के पास जाना, इन्हीं कर्मों के करने से विवेक की सिद्धि हो जाती है, जैसे कि इन्द्र को हुई थी।

न कालनियमो वामदेववत् ॥ २० ॥

अर्थ—इतने दिनों में विवेक उत्पन्न होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि वामदेव नाम वाले ऋषि को पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण थोड़ ही दिनों में विवेक उत्पन्न हो गया था।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥२१॥

अर्थ—शरीर ही आत्मा है, वा मन ही आत्मा है इस प्रकार अध्यास करके जो उपासना की जाती है, उसके परंपरा संबन्ध से विवेक होता है, जैसे—पहिले पुत्र को आत्मा माना, पीछे शरीर को, उसके पश्चात् इन्द्रियों को, इसी प्रकार करते-करते आत्म-विवेक हो जाता है जैसे—यज्ञ करने वालों की परम्परा संबन्ध से मुक्ति होती है; क्योंकि यज्ञ करने से चित्त की शुद्धि होती है, और चित्त शुद्धि से वासनाओं की न्यूनता आदि परम्परा से मुक्ति होती है, इसी प्रकार अध्यस्त उपासना से भी जानना चाहिये।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥ २२ ॥

अर्थ—यदि पञ्चाग्नि योग से इतर अर्थात शान्ति का लाभ भी कर लिया तो भी कर्मों की वासना बलवती बनी रहेगी; अतएव वे कर्म फिर भी उत्तरोत्तर उत्पन्न होते जायंगे, इसी

बात को श्रुतियां भी प्रतिपादन करती हैं। वे श्रुतियां छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आदि में हैं, यहां विस्तार भय से उनको नहीं लिखा है।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो विरक्त है, अर्थात जिसको विवेक हो गया है, उसको हेय (छोड़ने योग्य) का तो त्याग और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ग्रहण करना चाहिये। हेय अर्थात् छोड़ने लायक संसार है। उपादेय—ग्रहण करने लायक मुक्ति है, जैसे—हंस जल को छोड़ कर दूध पी लेते हैं, इसी तरह विरक्त को भी करना चाहिये।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥ २४ ॥

अर्थ—अथवा जो ज्ञान की पराकाष्ठा (हद) को प्राप्त हो गया है, यदि उसका संग हो जाय, तो भी पहिले कहे हुए हंस के समान विवेकी हो सकता है।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥

अर्थ—राग के नाश हो जाने पर भी कामचारित्व (इच्छाधीन) न होना चाहिये, कारण यह है कि फिर बन्धन में पड़ने का भय प्राप्त हो सकता है। दृष्टान्त—जैसे कोई तोता दाने के लालच में होकर बन्धन में पड़ गया था, जब उसको मौका मिला तब वह उस बन्धन में से भाग गया, फिर उस बन्धन के पास भय के मारे नहीं आया। क्योंकि अगर इसके पास जाऊंगा तो फिर बन्धन को प्राप्त होऊंगा। इसी पक्ष की और भी पुष्टि करेंगे।

गुणयोगाद् बद्धः शुकवत् ॥ २६ ॥

अर्थ—जब कामचारी रहेगा, तब उसके गुणों में किसी की प्रीति हो जायगी, तो भी उस विवेकी को फिर बद्ध होना पड़ेगा। जैसे मनोहर भाषण (बोलना) आदि गुणों से तोते का बन्धन हो जाता है।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ २७ ॥

अर्थ—भोगों को पूर्णरूप से भोगने से भी राग की शान्ति नहीं होती, जैसे—सौभरि नाम वाले मुनि ने भोगों को खूब अच्छी तरह भोगा, लेकिन उससे कुछ भी शान्ति न हुई। मृत्यु के समय उस महात्मा ने ऐसा कहा भी था कि :—

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाऽद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि ॥

अर्थ—आज मुझको इस बात का पूरा-पूरा निश्चय हो गया कि मृत्यु तक मनोरथों का अन्त नहीं है और जो चित्त मनोरथों में लगा हुआ है, उसमें विज्ञान का उदय कभी नहीं होता।

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के दोष, इन दोनों के देखने से रागों की शान्ति होती है और जिसका चित्त राग, द्वेष इत्यादिकों से युक्त है, उसको उपदेश फल का देने वाला नहीं होता।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—रागादिकों से मलिन चित्त में उपदेश रूपी ज्ञान वृक्ष का बीज नहीं जमता। राजा अज के समान। राजा अज की इन्दुमती स्त्री थी, उस स्त्री से राजा का बड़ा भारी प्रेम था। कालवश होकर वह इन्दुमती मृत्यु को प्राप्त हो गई। राजा अज उसके वियोग से बड़ा भारी दुःखी हुआ। उसका हृदय स्त्री के वियोग

से परम मलीन हो गया था। वशिष्ठ जी ने उपदेश भी किया, लेकिन वियोग—मलिन हृदय में उपदेश का अंकुर न जमा।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥ ३० ॥

अर्थ—मलिन हृदय में उपदेश का आभास-मात्र भी नहीं पड़ता। जैसे—मैले शीशे में प्रतिबिम्ब (अक्स) नहीं दीखता।

न तज्जस्यापि तद्रूपम् पंकजवत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मोक्ष भी प्रकृति के ही सहारे से होता है परन्तु जैसे प्रकृति से संसार उत्पन्न हुआ है और वह उसी प्रकृति का रूप समझा जाता है, वैसे मोक्ष प्रकृति का रूप नहीं हो सकता क्योंकि जैसे पंक (कीच) से उत्पन्न हुआ, कमल कीच के रूप का नहीं होता, वैसे प्रकृति से उत्पन्न हुआ मोक्ष प्रकृति रूप नहीं हो सकता है।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—ऊहादि विभूतियों के मिलने पर भी कृत-कृत्यता नहीं होती, क्योंकि जैसा उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है) होगा वैसी ही उपासक को सिद्धि प्राप्त होगी अर्थात् जो धनवान् की उपासना की जाती है, तो धन मिलता है, और दरिद्र की उपासना करने से कुछ भी नहीं मिलता। इसी प्रकार ऊह आदि सिद्धियां नाश होने वाली हैं, इस वास्ते उनकी प्राप्ति से कृतकृत्यता नहीं हो सकती। 'सिद्धिवत, सिद्धिवत' ऐसा जो दुबारा कहना है, सो अध्याय की समाप्ति का जताने वाला है।

इति सांख्यदर्शने चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

पंचमोऽध्यायः

महर्षि कपिल जी ने अपने शास्त्र का सिद्धान्त मुक्ति के साधनों के सम्बन्ध में पहिले चार अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया, अब इस अध्याय में वादी प्रतिवादी रूप से जो शास्त्र में सूक्ष्मतापूर्वक कही हुई बातें हैं, उनका प्रकाश करेंगे। कोई वादी शंका करता है, कि मंगलाचरण करना व्यर्थ है, इस विषय को हेतुगर्भित वाक्यों में प्रतिपादन करते हैं।

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ १ ॥

अर्थ—मंगलाचरण करना अवश्य चाहिये क्योंकि शिष्टजनों का यही आचार है और प्रत्यक्ष में भी यह फल दीखता है। जो उत्तम आचरण करता है, वही सुख भोगता है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, अहरहोऽग्निहोत्रं जुहुयात्।' रोज-रोज सन्ध्या करनी चाहिये, रोज-रोज अग्निहोत्र करना चाहिये, इत्यादि श्रुतियां भी अच्छे ही आचरणों को कहती हैं। बहुतेरे मनुष्य मंगलाचरण का यह अर्थ समझते हैं कि जब नये ग्रन्थ की रचना की जाय, तब उस ग्रन्थ के शुरू करने में किसी उत्तम शब्द का लिख देना। उसको मंगलाचरण का वैसा अर्थ नहीं हो सकता, दूसरे यदि ग्रन्थ के आदि में मंगल किया तो अन्यत्र असंगल होगा, तीसरे कादम्बर्यादि ग्रन्थों में मंगल के होने पर भी उनकी निर्विघ्न समाप्ति नहीं हुई, इस वास्ते ऐसा मानना किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं। इस विषय को संक्षेपतः लिखा है, इसका विस्तार बहुत है।

अन्य ग्रन्थ में कर्म का फल अपने आप होता है; इस पक्ष का खण्डन करते हैं।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

अर्थ—केवल ईश्वर का नाम लेने से अर्थात मंगलाचरण से फल नहीं मिल सकता किन्तु उसका हेतु कर्म है, जिसके होने से ईश्वर फल देता है, यदि कहो बिना कर्म के ईश्वर फल देता है।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे कि संसार में दीखता है, पुरुष अपने उपकार के वास्ते कर्मों का फल देने वाला एक भिन्न नियुक्त करता है, इसी तरह ईश्वर भी सब के कर्म फल देने के वास्ते एक अधिष्ठान है।

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥ ३ ॥

अर्थ—यदि ईश्वर को सब कर्मों का फल देने वाला न माना जाय, तो लौकिक ईश्वरों की तरह भिन्न-भिन्न कर्मों के फल देने वाले भिन्न-भिन्न ईश्वर मानने पड़ेंगे, जैसे—संसार में जज, कलक्टर इत्यादिक भिन्न-भिन्न कर्मों के फल देने वाले भिन्न-भिन्न ईश्वर हैं, लेकिन इन लौकिक ईश्वरों में भ्रम, प्रमाद इत्यादिक दोष दीखते हैं। यही दोष उस ईश्वर में दीख पड़ेंगे। इस वास्ते ऐसा मानना योग्य नहीं कि कर्म का फल ईश्वर नहीं देता।

पारिभाषिको वा ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्म का फल अपने आप होता है, ऐसा मानने से एक दोष और भी प्राप्त होता है. वह दोष यह कि ईश्वर केवल नाम-मात्र ही रह जायगा, क्योंकि कर्मों का फल तो आप ही हो जाता है; फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता रही। और ईश्वर के नाममात्र

ही रह जाने में यह भी दोष होगा कि वर्तमान संसार की सिद्धि भी न हो सकेगी।

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—ईश्वर, सृष्टि की सिद्धि में प्रतिनियत कारण है, उसके विना केवल राग से अर्थात् प्रकृति महदादिकों से संसार की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्र०—ईश्वर, जीव रूपधारी प्रकृति का सङ्गी है, और उसमें प्रकृति के संयोग होने से रागादिक भी हैं ?

उ०—तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—तुम्हारा यह कथन योग्य (सत्य) नहीं, क्योंकि ईश्वर नित्य मुक्त न रहेगा अर्थात् जैसे जीव प्रकृति के संगी होने से अनित्य मुक्त है। इसी तरह ईश्वर को भी मानना पड़ेगा। और जो लोग इस तरह ईश्वर को मानते हैं, उनका ईश्वर भी संसार के जीवों के समान अनित्य मुक्त होगा। यदि ऐसा कहा जावे कि ईश्वर से संसार बना है अर्थात् ईश्वर उपादान कारण है, सो भी सत्य नहीं।

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि ईश्वर को प्रधान शक्ति का योग हो, तो पुरुष में संगापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्य-रूप में संगत हुई है, वैसे ईश्वर भी स्थूल हो जाय, इस वास्ते ईश्वर जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता, किन्तु निमित्त-कारण है।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—अगर चेतन से जगत् की उत्पत्ति है, तो जिस प्रकार

परमेश्वर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त है. इसी तरह सब संसार भी सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिये, लेकिन संसार में यह बात नहीं दीखती, इस हेतु से भी परमेश्वर जगत् का उपादान कारण सिद्ध नहीं होता किन्तु निमित्त कारण ही सिद्ध होता है और भी इस विषय का पुष्टिकारक यह सूत्र है :—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ १० ॥

अर्थ—ईश्वर संसार का उपादान कारण है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, इस वास्ते उसकी सिद्धि नहीं हो सकती।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जबकि ईश्वर का संसार से उपादान कारण रूप सम्बन्ध ही नहीं है, तब ऐसा अनुमान करना कि ईश्वर ही से जगत् उत्पन्न हुआ है. व्यर्थ है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही है इस बात को श्रुतियां भी कहती हैं। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।" यह श्वेताश्वेतर उपनिषद् का वाक्य है, इसका यह अर्थ है कि जो जन्म रहित सत्व; रज, तमोगुण रूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है अर्थात परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है और ईश्वर अपरिणामी और असंगी है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं, कि ईश्वर को अविद्या संग होने से बन्धन में पड़ना पड़ता है, और उसी के योग से यह संसार है. इस मत का खण्डन करते हैं।

नाविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—ईश्वर निःसंग है, इस वास्ते उस ईश्वर को अविद्याशक्ति का योग नहीं हो सकता।

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ-यदि अविद्या के योग से संसार की सिद्धि मानी जाय, तो अन्योन्याश्रयत्व दोष प्राप्त होता है क्योंकि विना ईश्वर के अविद्या संसार को नहीं कर सकती और ईश्वर विना अविद्या के संसार नहीं बना सकता, यही दोष हुआ। यदि अविद्या और ईश्वर इन दोनों को एक-कालिक (एक समय में होने वाले) अनादि मानें, जैसे - बीज और अंकुर को मानते हैं, यह भी सत्य नहीं; क्योंकि :—

न बीजांकुरवत् सादिश्रुतेः ॥ १५ ॥

अर्थ—बीज और अंकुर के समान अविद्या और ईश्वर को मानें, तो यह दोष प्राप्त होता है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" हे सौम्य ! पहिले यह जगत सत् ही था, एक ही अद्वितीय ईश्वर है, इत्यादि श्रुतियां एक ही ईश्वर को प्रतिपादन करती हैं और जगत् को सादि और ईश्वर को अद्वितीय कहती हैं। अगर उसके साथ अविद्या का झगड़ा लगाया जावे तो उक्त श्रुतियों से विरोध हो जायगा। यदि ऐसा कहा जाय कि हमारी अविद्या योग-शास्त्र की-सी नहीं है किन्तु जैसी आपके मत में प्रकृति है, वैसी ही हमारे मत में अविद्या है, तो यह मत भी सत्य नहीं है।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥१६॥

अर्थ—यदि विद्या से अतिरिक्त (दूसरे) पदार्थ का नाम अविद्या है, अर्थात् विद्या का नाश करने वाली अविद्या है, तो ब्रह्म का भी अवश्य नाश करेगी; क्योंकि वह भी विद्यामय है, और इस सूत्र का यह भी अर्थ है। यदि अविद्या विद्या-रूप ब्रह्म से अतिरिक्त है और उसको विविध (अनेक प्रकार के

परिच्छेद रहित ब्रह्म में माना जाता है, और ब्रह्म अविद्या से अन्य अर्थात् दूसरा है और अविद्या ब्रह्म से अन्य है, तो ब्रह्म के परिच्छेद रहित तत्त्व में वाधा पड़ेगी, इस वास्ते ऐसा मानना सत्य नहीं।

उ०—अविद्या का किसी से वाध हो सकता है, या नहीं? इसका ही विचार करते हैं :—

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उस अविद्या का अगर किसी से वाध नहीं हो सकता, तो मुक्ति आदि के लिए विद्याप्राप्ति का उपाय करना निष्फल है।

विद्याबाधत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि विद्या से अविद्या का वाध हो जाता है, तो अविद्या से उत्पन्न हुए जगत् का भी वाध होना चाहिये।

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि अविद्या को जगत्‌रूप मानें अर्थात् जगत् ही अविद्या है, तो अविद्या में सादिपना आया जाता है, क्योंकि जगत् सादि है। इस वास्ते अविद्या कोई वस्तु नहीं है, उसी बुद्धिवृत्ति का नाम अविद्या है, जो महर्षि पतञ्जलि ने कही है। और इस विषय में यह भी विचार होता है, कि जब कपिलाचार्य के मत में सम्पूर्ण कार्यों की विचित्रता का हेतु प्रकृति है, और वही प्रकृति सुख दुःखादिक का हेतु है, तो धर्माधर्म के मानने की क्या आवश्यकता है। अब इसी पर विचार करके धर्म की सिद्धि करते हैं।

उ०—न धर्माऽपलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥२०॥

अर्थ—प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से धर्म का अपलाप (दूर होना) नहीं हो सकता, क्योंकि :—

श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः ॥ २१ ॥

अर्थ—उसकी सिद्धि श्रुति और योगियों के प्रत्यक्ष से हो सकती है। "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" पुण्य निश्चित करके पुण्य से होता है, और यह भी निश्चय है पाप, पाप से ही उत्पन्न होता है इत्यादि श्रुतियां भी धर्म के फल को कहती हैं, इस वास्ते धर्म का अपलाप नहीं हो सकता।

प्र०—धर्म में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, इस वास्ते उसकी सिद्धि नहीं हो सकती ?

उ०—न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥

अर्थ—धर्म की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि इसमें अनेक प्रमाण हैं, और प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय और प्रमाणों से भी पदार्थ की सिद्धि होती है।

प्र०—धर्म की तो सिद्धि इस तरह कर ली गई, लेकिन अधर्म की तो सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं हो सकती ?

उ०—उभयत्राप्येवम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसे धर्म की सिद्धि में प्रमाण पाये जाते हैं इसी तरह अधर्म की सिद्धि में भी प्रमाण पाये जाते हैं।

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥

अर्थ—वेदादि सत् शास्त्रों में जिस बात की विधि पाई जाती है वही धर्म है, और इसके सिवाय अधर्म है। यदि इस प्रकार की अर्थापत्ति निकाली जाय, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति आदिकों में जिस प्रकार धर्म की विधियों का वर्णन है उस ही प्रकार अधर्म का निषेध भी है, जैसे—"परदारान्न गच्छेत्" पराई स्त्री के समीप

गमन न करे, इस तरह के वाक्य धर्माधर्म दोनों के विषय में ही निषेध और विधिरूप से बराबर पाये जाते हैं।

प्र०—यदि धर्मादि को आप मानते हैं, तो पुरुष को धर्मवाला मानकर पुरुष में परिणामित्व प्राप्त होता है ?

उ०—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—धर्मादिक अन्तःकरण के धर्म हैं अर्थात् इस धर्मादिकों का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, जीव से नहीं है, और इस सूत्र में जो आदि शब्द है, उसके कहने से वैशेषिक शास्त्र के आचार्यों ने जो आत्मा के विशेष गुण माने हैं, उनका ही ग्रहण माना गया है अर्थात वही आत्मा के विशेष गुण जाने गये हैं। प्रलयावस्था में तो अन्तःकरण रहता ही नहीं, तब धर्मादिक कहां रहते हैं, ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि आकाश के समान अन्तःकरण भी नाश रहित है, अर्थात् अन्तःकरण का नाश सिवाय मुक्ति के कदापि नहीं होता, और इस बात को पहले कह भी चुके हैं कि अन्तःकरण कार्य-कारणभाव दोनों रूप को धारण करता है। इससे अन्तःकरण-रूप जो प्रकृति का अंश विशेष है, उससे धर्म अधर्म दोनों के संस्कार रहते हैं। इस बात को ही किसी कवि ने भी कहा है, कि धर्म नित्य है और सुख दुःखादि सब अनित्य हैं। इस विषय में यह सन्देह भी उत्पन्न होता है कि प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से जो धर्म अधर्म आदि की सिद्धि की गई है वह सत्य नहीं, क्योंकि प्रकृति तो त्रिगुणात्मक अर्थात् रजोगुण, तमोगुण, सत्वगुण, इससे युक्त है, और उसके कार्यों का बाध इन श्रुतियों से प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" घट-पट आदि सब कहने मात्र को ही हैं, केवल मृत्तिका (मिट्टी) ही सत्य है। इस वास्ते

प्रकृति के गुण मानना सत्य नहीं; इस पक्ष के खण्डन के वास्ते यह सूत्र है :—

गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥

अर्थ—गुण जो सत्वादिक अर्थात् सत्व, रज, तम, उनके धर्म जो सुखादिक और उनके कार्य जो महदादिक हैं, उनका स्वरूप से बाध नहीं है, अर्थात् स्वरूप से नाश नहीं होता, किन्तु संसर्ग से बाध होता है, जैसे—आग के संसर्ग (मेल) से जल की स्वाभाविक शीतलता का बाध हो जाता है, परन्तु उसके स्वरूप का बाध नहीं होता; इसी तरह प्रकृति के गुणों का भी बाध्य नहीं होता।

पंचाऽवयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥ २७ ॥

अर्थ—सुखादि पदार्थों की सिद्धि पंचावयव वाक्य से होती है, जिस तरह न्यायशास्त्र में मानी गई है। इस कारण जब सुख आदि की सिद्धि न्यायशास्त्र के अनुसार मान ली जाती है, तब उसका स्वरूप से नाश भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो पदार्थ सत् है, उसका नाश नहीं हो सकता और उस पंचावयव वाक्य से सुखादि की संवित्ति इस तरह होती है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांचों को सुख में इस तरह लगाना चाहिये कि सुख सत् है, इसका नाम प्रतिज्ञा है; प्रयोजन-क्रियाकारी होने से इसका नाम हेतु है, जैसे चेतन प्रयोजन की क्रियाओं का कर्त्ता है, उसी तरह इसका नाम भी दृष्टान्त है। पुलकन (रूंओं का खड़ा होना) आदि प्रयोजन की क्रिया सुख में है, इसका नाम उपनयन है; इस वास्ते वह सच्चा है, यह निगमन है। यहां केवल सुख का ग्रहण करना नाम मात्र ही है। इसी तरह और गुणों का स्वरूप से

नाश नहीं होता। इस जगह आचार्य ने न्याय का विषय इस वास्ते वर्णन किया है कि इन पांच बातों के बिना किसी झूठे-सच्चे पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकता और जो इस पंचावयव से सिद्ध नहीं हो सकता उसमें अनुमान करना भी सत्य नहीं और एक नास्तिक जो कि प्रत्यक्ष के सिवाय और प्रमाणों को नहीं मानता और इस पंचावयव के मुख्य सिद्धान्त व्याप्ति का खण्डन करने के आशय से अट्ठाईसवें सूत्र से उसमें दोष और अनुमान को असंगत बतलाता है।

न सकृद्ग्रहणात्सम्बंधसिद्धिः ॥ २८ ॥

अर्थ—जहां धुंआ होगा, वहां अग्नि भी होगी। इस साहचर्य के स्वीकार (मानने) से व्याप्तिरूपी सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि आग में धुंआ सदा नहीं रहता और जो महानस (रसोई के स्थान) का दृष्टान्त दिया जाता है, वह भी सत्य नहीं है क्योंकि किसी जगह अग्नि और घोड़ा इन दोनों को किसी आदमी ने देखा, अब दूसरी जगह उसको घोड़ा नजर पड़ा, तब वह ऐसा अनुमान नहीं कर सकता कि यहां अग्नि भी होगी: क्योंकि घोड़ा दीखता है। ऐसे ही अग्नि और घोड़ा मैंने वहाँ भी देखा था। बस इस पूर्वपक्ष से नैयायिक जैसा अनुमान करते हैं, वह अयुक्त सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष को ही मानने वाले चार्वाक नास्तिक के मत की पुष्टि हुई। इसका यह उत्तर है :—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥

अर्थ—जिन दो पदार्थों का व्याप्य-व्यापक भाव होता है, उन दोनों पदार्थों में से एक का अथवा दोनों का जो नियत धर्म है, उसके साहित्य (साथ रहने का नियम) होने को व्याप्ति

कहते हैं। विशेष व्याख्या इस तरह है कि जैसे पहाड़ पर आग है क्योंकि धुंआ दीखता है। जहां-जहां धुआं होता है, वहीं-वहीं आग भी अवश्य होती है। इसका नाम ही व्याप्ति है। इससे यह जानना चाहिये कि धुआं विना आग के नहीं रह सकता, परन्तु आग विना धुएं के रह सकती है; इससे सिद्ध हुआ कि धुएं का आग के साथ रहना नियत धर्म-साहित्य है; परन्तु यह एक का नियत धर्म-साहित्य हुआ। चार्वाक ने जो अग्नि घोड़े का दृष्टान्त देकर व्याप्ति का खण्डन किया था, वह भी सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि घोड़ा तो सैकड़ों जगह विना अग्नि के दीखने में आता है और आग को विना घोड़े के देखते हैं, इस वास्ते वह साहचर्य नहीं रहा, अतएव वह सब अयुक्त सिद्ध हो गया। अब रहा दोनों का नियत धर्म-साहित्य वह गन्ध और पृथ्वी में मिलता है अर्थात् जहाँ पृथ्वी होगी, वहां गन्ध अवश्य होगी और जहां गन्ध होगी वहां पृथ्वी भी अवश्य होगी। इन दोनों में से विना एक के एक नहीं रह सकता है।

न तत्वान्तरं वस्तुकल्पनाऽप्रसक्तेः ॥ ३० ॥

अर्थ—पहिले सूत्र में जो व्याप्ति का लक्षण किया गया है, उसके सिवाय किसी और पदार्थ का नाम व्याप्ति नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार अनेक तरह की व्याप्ति मानने में एक नया पदार्थ कल्पना करना पड़ेगा। इस वास्ते व्याप्ति का वही लक्षण सत्य है जो पहिले सूत्र में किया है।

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो व्याप्य की शक्ति से उत्पन्न किसी विशेष शक्ति का रूप हो, वही व्याप्ति आचार्यों के मत में मानने लायक है। इस सूत्र का आशय इस दृष्टान्त से समझना चाहिये कि व्याप्य जो

अग्नि है, उसकी ही शक्ति से धुआं उत्पन्न होता है और वह धुआं आग की किसी विशेष शक्ति का रूप है। इसी तरह के पदार्थ को व्याप्ति कहते हैं; और जिसमें यह बात नहीं है, वह व्याप्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती।

प्र०—धुआं आग की शक्ति से पैदा नहीं होता है, गीले ईंधन की शक्ति से पैदा होता है ?

उ०—यह कहना ठीक नहीं है, यदि गीले ईंधन में ऐसी शक्ति होती तो वायु (हवा) के संयोग होने से ईंधन में से धुआं क्यों नहीं उत्पन्न होता परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता; इससे यह बात माननी पड़ेगी कि धुआं अग्नि की शक्ति विशेष है।

आधेयशक्तियोग इति पंचशिखः ॥ ३२ ॥

अर्थ—आधार में जो आधेय शक्ति रहती है, उसको ही पंचशिख नाम वाले आचार्य व्याप्ति मानते हैं। इसका आशय भी इस दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि आधार जो आग है, उसमें आधेय जो धुआं, उसके रहने की जो शक्ति है, उसको व्याप्ति कहते हैं।

प्र०—जब आग में धुआं नहीं दीखता है, तब उसमें व्याप्ति का नाश हो जाता है क्या ?

उ०—नहीं ! क्योंकि धुएं का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है अर्थात् धुआं कभी उत्पन्न होता है, कभी उसी के भीतर लय हो जाता है, किन्तु आग से धुआं नाश नहीं होता है। इस वास्ते व्याप्ति का नाश नहीं हो सकता, इसको पहले अध्याय में विस्तार-पूर्वक कह आये हैं।

प्र०—आधार में आधेयशक्तिमत्त्व क्यों कल्पना किया जाता है। आधार की स्वरूप शक्ति को ही व्याप्ति क्यों नहीं मानते ?

उ०---न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

अर्थ --व्याप्य (आधार) की स्वरूपशक्ति को नियम अर्थात् व्याप्ति नहीं मान सकते; क्योंकि उसमें फिर झगड़ा पड़ने का भय है। अब उस झगड़े को लिखते हैं कि जिसका भय है :—

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥ ३४ ॥

अर्थ—विशेषण देना व्यर्थ हो जायगा, जैसे कहा गया है कि बहुत धुएं वाली आग है। इस वाक्य में 'बहुत' शब्द विशेषण है और 'धुआं' विशेष्य है; इसी तरह 'धुआं' आधेय है और आग आधार है। यदि धुएं को अग्नि की स्वरूपशक्ति मान लें, तो बहुत शब्द को क्या मानें, क्योंकि उस 'बहुत' शब्द को अग्नि की स्वरूप-शक्ति नहीं मान सकते और उस वाक्य के साथ होने से वह शब्द अपना कुछ अर्थ भी अवश्य रखता है एवं उस अर्थ से स्वरूपशक्ति में न्यूनाधिकता (कमती-बढ़ती) भी अवश्य हो जाती है, तो उसको भी कुछ न कुछ अवश्य मानना चाहिये। यदि न माना जायगा, तो उसका उच्चारण करना व्यर्थ हुआ जाता है और महात्माओं के अक्षर व्यर्थ नहीं होते और भी दूसरा झगड़ा प्राप्त होता है कि :—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे कि पत्तों का आधार पेड़ है, और व्याप्ति का लक्षण स्वरूपशक्ति मानकर वृक्ष की शक्तिस्वरूप जो पत्ते हैं, वही व्याप्ति के कहने से ग्रहण हो सकते हैं। इस प्रकार मानने में यह दोष रहेगा कि जैसे वृक्ष की स्वरूपशक्ति पत्तों को मान लिया और वही व्याप्ति भी हो गई, तो पत्तों के टूटने पर व्याप्ति का भी नाश मानना पड़ेगा। यदि व्याप्ति का नाश माना जायगा, तो बड़ा भारी झगड़ा उत्पन्न हो जायगा, और

प्रत्यक्षवादी चार्वाक नास्तिक का मत पुष्ट हो जायगा, इस वास्ते ऐसा न मानना चाहिये कि आधार की स्वरूपशक्ति का ही नाम व्याप्ति है। अब इस बात का निश्चय करते हैं कि आचार्य और पंचशिख नामक आचार्य के मत में भेद है या नहीं। क्योंकि पंचशिख नामवाला आचार्य तो आधार (आग) में आधेय (धुवें) की शक्ति होने को व्याप्ति मानता है। और आचार्य मुनि कपिल जी व्याप्त आग की शक्ति से उत्पन्न हुए किसी विशेष शक्ति को दूसरा पदार्थ मान कर उसको व्याप्ति मानते हैं। इन दोनों में से कौन सत्य है ?

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समान-न्यायात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—समान न्याय अर्थात् बराबर युक्ति होने से जैसे कि आधेय-शक्ति की सिद्धि होती है वैसे ही निज-शक्तियोग की, यह आचार्यों का मत भी सत्य है। दोनों में से कोई भी युक्ति-हीन नहीं मानते हैं। यह व्याप्ति का झगड़ा केवल इसी वास्ते उत्पन्न किया गया था कि गुण आदि स्वरूप से नाशवान् नहीं हैं। इस पक्ष की पुष्टि करने के वास्ते आचार्य को अनुमान प्रमाण की आवश्यकता हुई और वह अनुमान प्रमाण पंचावयव के बिना नहीं हो सकता था, इस वास्ते उनको लिखना पड़ा। इसी निश्चय के पंचावयव के अन्तर्गत एक साहचर्य नियम जिसका दूसरा नाम व्याप्ति आन पड़ा उसको प्रकाश करने के वास्ते यह कहकर अपने पक्ष को पुष्ट कर लिया। अब इससे आगे पंचावयव रूप शब्द को ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु सिद्ध करने के वास्ते शब्द की शक्तियों का प्रकाश करके उस शब्द-प्रमाण में बाधा डालनेवालों के मत का खण्डन करते हैं—

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ—शब्द के अर्थ में वाच्यता-शक्ति रहती है और शब्द में वाचकता-शक्ति रहा करती है, इसको ही शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध कहते हैं, अर्थात् शब्द अर्थ को कहा करते हैं, और अर्थ शब्द से कहा जाता है। यही इन शब्दार्थों का सम्बन्ध है। उस वाच्य-वाचकतारूप-शक्ति को कहते हैं।

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुए सम्बन्ध की सिद्धि तीन तरह से होती है—एक तो आप्त (पूर्ण विद्वान्) के उपदेश से, दूसरे वृद्धों के व्यवहार से; तीसरे संसार में जो प्रसिद्ध वर्ताव में आनेवाले पद हैं, उनके देखने से। इन ही तीन तरह के शब्दों का वाच्य-वाचकभाव होता है। उसको इस तरह समझना चाहिये कि आप्तों के द्वारा ऐसे शब्दों का ज्ञान होता है, जैसे ईश्वर निराकार सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। जब ईश्वर शब्द कहा जावेगा, तब पूर्वोक्त (पहिले कहे हुए) विशेषण वाले पदार्थ का ज्ञान होगा और वृद्धों के व्यवहार से यह मालूम होता है कि जिसके सास्ना (गौ के कन्धों के नीचे जो लम्बी सी खाल लटकती है) और लांगूल (पूंछ) होती है, उसको गौ कहते हैं ऐसा ज्ञान हो जाने पर जब-जब गौ शब्द का उच्चारण होगा, तब-तब उसी अर्थ का ज्ञान हो जायगा और प्रसिद्ध शब्दों का व्यवहार इस तरह है, कि जैसे कपित्थ एक वृक्ष का नाम है, वह क्यों कपित्थ शब्द से प्रसिद्ध है? इस प्रकार का तर्क न करना चाहिये; क्योंकि लोकप्रसिद्ध होने के कारण कपित्थ शब्द कहने से कपित्थ (कैथ) का ही ग्रहण होता है।

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह कोई नियम नहीं है कि शब्द-शक्ति का वाच्य-वाचकभाव कार्य में ही हो, और जगह नहीं; क्योंकि दोनों तरह शब्द की शक्तियों का ग्रहण दीखता है। शास्त्रों में जैसे किसी वृद्ध ने बालक से कहा "गौ को लाओ" इस वाक्य के कहने से गौ का लाना यह कार्य दीखता है और इसके शब्द भी उस कार्य को ही दिखलाते हैं और तेरे पुत्र उत्पन्न हो गया इसमें कार्य का प्रत्यक्ष भाव नहीं दिखाई पड़ता है। क्योंकि पुत्र का उत्पन्न होना यह जो क्रिया है वह पहले ही हो चुकी और यह वाक्य उस बीती हुई क्रिया को कहता है; इस वास्ते यह नियम नहीं कि कार्य में ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध हो।

प्र०—यह उपरोक्त प्रतीति लौकिक बातों में हो सकती है, क्योंकि संसार में बहुधा कार्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु वेद में जो शब्द हैं, उनके अर्थ का ज्ञान कैसे होता है क्योंकि शब्द कार्य नहीं है।

उ०—लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सांसारिक कार्यों में चतुर होते हैं, वही वेद को यथार्थ रीति से जान सकते हैं, क्योंकि ऐसा कोई भी लोक का हितकारी कार्य नहीं है, जो वेद में न हो; इस वास्ते वेद में विज्ञता उत्पन्न करने के अर्थ सांसारिक जीवों को योग्यता प्राप्त करनी चाहिये और शब्दों की शक्ति लोक (संसार) और वेद इन दोनों में बराबर है। इस विषय पर नास्तिक शंका करते हैं—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—आपने जो तीन प्रमाण दिये उन प्रमाणों से वेद के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य मनुष्य की बात

को समझ सकता है, परन्तु वेद अपौरुषेय (जो किसी मनुष्य का बनाया हुआ न हो) है, इस वास्ते उसका अर्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता है; क्योंकि वह वेद अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है। इसका समाधान करने के वास्ते पहले इस बात को सिद्ध करते हैं कि वेदों का अर्थ प्रत्यक्ष देखने में आता है, अतीन्द्रिय नहीं है।

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—वेद के अर्थ को जो अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से न जाना जाय) कहा सो सत्य नहीं। वेद से जो यज्ञादि किये जाते हैं, और उन यज्ञादिकों में जो-जो काम किये जाते हैं, वे सब स्वरूप से ही धर्म हैं, क्योंकि उन यज्ञादिकों का फल प्रत्यक्ष में दीखता है, जैसे "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः"। यज्ञ से मेघ होता है, और मेघ के होने से अन्न उत्पन्न होता है, इत्यादि वाक्य गीता में मिलते हैं।

प्र०—जबकि वेद अपौरुषेय हैं तब उनका अर्थ कैसे ज्ञात होता है?

उ०—निजशक्तिव्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—शब्द का अर्थ होना यह शब्द की स्वाभाविकी शक्ति है, और विद्वानों की परम्परा से वह शक्ति वेद के अर्थों में भी चली आती है, और उसी व्युत्पत्ति (वाक़फ़ियत) से वृद्ध लोग शिष्यों को उपदेश करते चले आये हैं कि इस शब्द का ऐसा अर्थ है। और जो ऐसा कहते हैं कि वेदों का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय है, उसका यह समाधान है।

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि जिन-जिन कार्यों को वेद ने अच्छा कहा है और हिंसादि जिन-जिन कार्यों को बुरा कहा है, उनकी प्रतीति

प्रत्यक्ष में दीखती है अर्थात् इन दोनों कार्यों का जैसा फल वेद में लिखा है वैसा ही देखने में आता है। इससे इस बात की सिद्धि हो गई कि वेद का अर्थ अतीन्द्रिय नहीं है।

प्र०—न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—वेद नित्य नहीं है, क्योंकि श्रुतियों से मालूम होता है कि "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" उस यज्ञरूप परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, उत्पन्न हुए इत्यादि श्रुतियां पुकार-पुकार कह रही हैं कि वेद उत्पन्न हुए। जब ऐसा सिद्ध हो गया, तो यह बात निश्चय ही है कि जिसकी उत्पत्ति है, उसका नाश भी अवश्य है; इस वास्ते वेद कार्यरूप होने से नित्य नहीं हो सकते हैं।

उ०—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

अर्थ—वेद किसी पुरुष के बनाये हुए नहीं हैं, क्योंकि उनका बनाने वाला दीखता नहीं। तब यह बात माननी पड़ेगी कि वेद अपौरुषेय हैं, जबकि वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्ध हो गया तो वह जिसके बनाये हुए वेद हैं नित्य है; और नित्य के कार्य भी नित्य होते हैं, इस कारण वेदों का नित्यत्व सिद्ध हो गया। यदि ऐसा कहा जावे कि वेदों को भी किसी जीव ने बनाया होगा सो भी सत्य नहीं।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो मुक्त, दूसरे अमुक्त। यह दोनों प्रकार के जीव वेद के बनाने के अधिकारी नहीं हैं। कारण यह है कि मुक्त जीव में वह शक्ति नहीं रहती,

जिससे वेद बना सकें, और बद्ध जीव अज्ञानी अल्पज्ञ (थोड़ा जानने वाला) इत्यादि दोषों से युक्त होता है और वेद में इस प्रकार की बातें देखने में आती हैं, जो बिना सर्वज्ञ के नहीं हो सकतीं और जीव अल्पज्ञ है, इस प्रमाण से भी वेदों की नित्यता सिद्ध हो गई। इसी विषय को और भी दृढ़ करते हैं।

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वेद अपौरुषेय हैं, इस वास्ते नित्य हैं, ऐसा नहीं; क्योंकि अंकुर किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं होता, परन्तु अनित्य होता है।

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥ ४९ ॥

अर्थ--यदि वेदों को भी बनाया हुआ माना जायगा, तो प्रत्यक्ष जो दीखता है; उसमें दोष प्राप्त होगा। दृष्टान्त—जैसे कि अंकुर का लगाने वाला दीखता है और उपादान कारण जो बीज है वह भी दीखता है। इस प्रकार वेदों का बनाने वाला और उपादान कारण नहीं दीखता है, इस कारण नित्य है। यदि नित्य न माना जाय, तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जायगा।

वेदों को जो अपौरुषेय कहा है, उसमें यह सन्देह होता है कि पौरुषेय किस को कहते हैं और अपौरुषेय किसको कहते हैं? इस सन्देह को दूर करने के लिये पौरुषेय का लक्षण लिखते हैं।

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥५०॥

अर्थ—जिस पदार्थ का कर्ता प्रत्यक्ष न हो अर्थात् बनाने वाला न दीखता हो, लेकिन उस पदार्थ के देखने से यह ज्ञान हो कि इसका बनाने वाला कोई अवश्य है; इसका ही नाम पौरुषेय है। लेकिन वेदों के देखने से यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गई है और उन वेदों

का बनाने वाला कोई नहीं है। उत्पत्ति और बनाना, दोनोंमें इतना अन्तर है कि बीज से अंकुर उत्पन्न हुआ, कुम्हार ने घड़े को बनाया, इस बात को बुद्धिमान् अपने आप विचार लेवें, कि उत्पत्ति और बनाना इसमें भेद है या नहीं? बनाना कोई और बात है, उत्पत्ति कोई और बात है। इस तरह ही वेदों की उत्पत्ति मानी गई है; किन्तु घटादि पदार्थों के समान वेदों की उत्पत्ति नहीं है। इस कारण वेद अपौरुषेय हैं।

प्र०—जब कि वेदों में उन्हीं बातों का वर्णन है, जो संसार में वर्त्तमान हैं, तो वेदों को क्यों प्रमाण माना जाय?

उ०—निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥५१॥

अर्थ—जिस वेद के ज्ञान होने से अर्थात् जानने से आयुर्वेद (वैद्यक), कला-कौशल आदि सब तरह की विद्याओं का प्रकाश होता है वह वेद स्वतः (अपने आप) प्रमाण हैं। उसमें दूसरे प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो आप ही दूसरों का प्रमाण है उसका प्रमाण किसको कह सकते हैं, जैसे—सेर, दुसेरी आदि तोलने के बाट तोलने में आप ही प्रमाण हैं, लेकिन सेर दुसेरी आदि बाट क्यों प्रमाण हैं, ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो स्वतः प्रमाण हैं। इसी तरह वेदों को भी स्वतः प्रमाण समझना चाहिये।

पहिले जो ४१वें सूत्र में नास्तिक ने यह पूर्व पक्ष किया था कि वेदों का अर्थ नहीं हो सकता, उसका उत्तर-पक्ष वहां पर कह आये थे, और फिर भी उसको ही दृष्टान्त द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं।

नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जैसे कि पुरुष के सींग नहीं होते, इसी तरह जो पदार्थ है ही नहीं, उसका कहना भी व्यर्थ है, जैसे कि वन्ध्या स्त्री का पुत्र।

जबकि वन्ध्या स्त्री के पुत्र होता ही नहीं तो ऐसा कहना भी व्यर्थ है। यदि इस तरह वेदों का भी कुछ अर्थ न होता तो वृद्ध लोग परम्परा से (एक को एक ने पढ़ाया) क्यों शिष्यों को पढ़ा कर प्रसिद्ध करते। इससे प्रत्यक्ष होता है कि वेदों का अर्थ है।

न सतोबाधदर्शनात् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ सत् है उसका बाध किसी तरह नहीं हो सकता और वेद सत् माने गये हैं, इस वास्ते ऐसा कहना नहीं बन सकता कि पदार्थ नहीं है।

प्र०—वेदार्थ है या नहीं, ऐसा झगड़ा क्यों किया जाय, यही न कह दिया जावे कि वेद का अर्थ है तो, परन्तु अनिर्वचनीय है।

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—वेद के अर्थ को अनिर्वचनीय (जो कहने में न आये) कहना ठीक नहीं, क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दीखता जो अनिर्वचनीय हो, और उसी पदार्थ को कह सकते हैं, जो संसार में प्रत्यक्ष है; इसलिये अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं।

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—अन्यथा ख्याति भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने पर अपने ही कथन में दोष प्राप्त होता है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेद का अर्थ दूसरा है, परन्तु संसार में दूसरी तरह प्रचलित हो रहा है, इस तरह की अन्यथा ख्याति करने पर यह दोष होता है कि जो मनुष्य वेद का अर्थ ही न मान कर अनिर्वचनीय कहते हैं, वह अन्यथा ख्याति को क्यों मान सकते हैं, ऐसा कहना उनके वचन से ही विरुद्ध होगा।

प्र०—अन्यथा ख्याति किसको कहते हैं ?

उ०—पदार्थ तो दूसरा हो, और अर्थ दूसरी तरह किया जाय, जैसे—सीप में चांदी का आरोप करना अर्थात् चांदी सिद्ध करनी।

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—यदि ऐसा माना जाय कि वेदों का अर्थ है भी और नहीं भी है, क्योंकि जो संसार के कार्यों में चतुर नहीं हैं उनको वेद के अर्थ का बाध होता है; और जो सांसारिक कार्यों में चतुर हैं, उनको अबाध होता है, इस तरह स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, है या नहीं इस तरह जैनों के मत के अनुसार ही माना जाय, तो भी ठीक नहीं। इस सूत्र में पहिले सूत्र से नकार अनुवृत्ति आती है। "नासतः ख्यानं नृशृंगवत्" इस सूत्र से लेकर ५६ वें सूत्र तक जो अर्थ विज्ञानभिक्षु ने किया है और "गुणादीनां नात्यन्तबाधः" इस सूत्र के आशय से मिलाया है, वह ठीक नहीं; क्योंकि वैसा अर्थ करने से प्रसंग में विरोध आता है। दूसरे यह कि इस ५६ वें सूत्र को, जो कपिल मुनि के सिद्धान्त पक्ष में रख कर गुणों का बाध, अबाध दोनों ही माने हैं, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि "न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः", इस सूत्र में आचार्य पहिले ही कह चुके हैं कि असत् और सत् इन दोनों धर्मों वाला कोई पदार्थ संसार में नहीं दीखता; तो क्या आचार्य भी विज्ञानभिक्षु के समान ज्ञान-रहित थे, जो अपने पूर्वापर कथन को ध्यान में न रखकर गुणों को सत् और असत् दोनों रूपों में कहते।

यहां तक वेदों की उत्पत्ति और नित्यता को सिद्ध कर चुके। अब शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शब्द मुख से निकलता है; उस शब्द के अतिरिक्त जो उस शब्द में अर्थ के ज्ञान कराने वाली शक्ति है उसे स्फोट

कहते हैं; जैसे कि—किसी ने कलश शब्द को कहा, तो उस कलश शब्द के उच्चारण होने से कम्बुग्रीवादि कपालों का जिस शक्ति से ज्ञान होता है, उसका ही नाम स्फोट है। इससे ऐसा न समझना चाहिये कि कलश इतना शब्द मुंह से निकलते ही कम्बुग्रीव वाला जो पदार्थ है, उसका ही नाम कलश है, किन्तु जिस शक्ति से उसका ज्ञान होता है, उसी का नाम स्फोट कहलाता है, किन्तु स्फोटात्मक शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें दो तरह के तर्क उत्पन्न हो सकते हैं कि शब्द की प्रतीति होती है या नहीं। यदि प्रतीति होती है, तो जिस अर्थ वाले अक्षर समुदाय से पूर्वापर मिला कर अर्थ प्रतीत और वाच्य (कहने लायक) वस्तु का बोध (ज्ञान) है, उसके सिवाय स्फोट को मानना व्यर्थ है, क्योंकि शब्द से ही अर्थ ज्ञान हुआ स्फोट से नहीं। और यह कहो कि शब्द की प्रतीति नहीं होती तब अर्थ ही नहीं। फिर स्फोट में ऐसी शक्ति कहां से आई जो बिना अर्थ के अर्थ की प्रतीति करा सके। इस कारण स्फोट का मानना व्यर्थ है।

प्र०—न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—शब्द नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चारण के बाद शब्द नष्ट हो जाता है, जैसे—ककार उत्पन्न हुआ, उच्चारणावसान में फिर नष्ट हो गया, इत्यादि अनुभवों से सिद्ध होता है कि शब्द भी कार्य है।

उ०—पूर्वसिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥५६॥

अर्थ—जिस शब्द का होना पहिले ही से सिद्ध है, उस शब्द का उच्चारण करने से प्रकाश होता है, उसकी उत्पत्ति

नहीं होती है। दृष्टान्त–जैसे कि अन्धेरे स्थान में रक्खे हुए पात्र को दीपक प्रकाश कर देता है। ऐसा नहीं कह सकते कि दीये ने पात्र को उत्पन्न कर दिया, क्योंकि पात्र तो पहिले से ही वहां विद्यमान था, अन्धकार के कारण उसका ज्ञान नहीं होता था। इसी तरह शब्द भी पहिले से सिद्ध है, उच्चारण करने से केवल उसका प्रकाश होता है, इसलिये शब्द नित्य है।

सत्कार्यसिद्धांतश्चेत् सिद्धसाधनम् ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि ऐसा कहा जाय कि कार्य जिस अवस्था में दीखता है, उसी अवस्था में सत् है, शेष और अवस्थाओं में असत् है। इसी तरह शब्द का भी कार्य है और अपनी अवस्था में सत् है, ऐसा मानेंगे, तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर हम शब्द के सम्बन्ध में सिद्ध साधन मानेंगे, अर्थात् जो शब्द पहिले हृदय में था, उसी को उच्चारण आदि क्रियाओं से स्पष्ट किया है किन्तु घटादि पदार्थों के समान बनाया नहीं है।

यहाँ तक शब्द-विचार समाप्त हुआ। अब इस विषय का विचार करेंगे कि जीव एक है वा अनेक हैं।

नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जीव एक नहीं है किन्तु अनेक हैं, इस सूत्र का यह भी अर्थ है। जीव और ईश्वर इन दोनों का अभेद मानकर जो अद्वैत माना जाता है वह ठीक नहीं क्योंकि जीव के जो अल्पज्ञत्वादि चिह्न हैं और ईश्वर के जो सर्वज्ञत्वादि चिह्न हैं, उनसे दोनों में भेद ज्ञात होता है।

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अनात्मा जो सुख दुःखादिकों के भोग हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध होती है कि जीव एक नहीं है, क्योंकि एक मानने

से प्रत्यक्ष में विरोध की प्राप्ति होती है और संसार में दीखता भी है कि सुख-दुःख अनेक व्यक्ति एक समय में भोग करते हैं, दूसरे पक्ष में ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि जो मनुष्य एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते, उनके सिद्धान्त में पूर्वोक्त दोष के अतिरिक्त और एक दोष यह भी प्राप्त हो जायगा कि घटादि कार्यों को भी आत्मा मान कर उनके नाश होते ही आत्मा का भी नाश मानना होगा। यह प्रत्यक्ष से विरोध होगा, इसलिये ऐसा अद्वैत मानना सत्य नहीं है।

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

अर्थ—आत्मा और अनात्मा इन दोनों की एकता है ऐसा कहना भी योग्य नहीं, क्योंकि उसी प्रत्यक्ष प्रमाण में बाधा प्राप्त हो जायगी और संसार में यह बात प्रत्यक्ष दीख रही है कि आत्मा और अनात्मा दो पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, इस वास्ते ऐसा कहना कि एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं, योग्य नहीं।

प्र०—अगर तुम ऐसा मानते हो कि आत्मा और अनात्मा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, तो श्रुतियां ऐसा क्यों कहती हैं कि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"; "आत्मैवेदं सर्वम्" (एक ही ब्रह्म अद्वितीय है; यह सब आत्मा ही है) इत्यादि श्रुतियां एक आत्मा बताती हैं, तो बहुत से आत्मा, जीव या ब्रह्म पृथक्-पृथक् क्यों माने जांय।

उ०—अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥

अर्थ—इन श्रुतियों में अन्यपरत्व अर्थात द्वैत है, ऐसा ज्ञान अज्ञों को होता है और जो विद्वान् हैं वह इन श्रुतियों का ऐसा अर्थ नहीं करते हैं, क्योंकि अद्वितीय शब्द से यह प्रयोजन है कि ईश्वर के समान दूसरा और कोई नहीं है और जो एक आत्मा मानते हैं, उनके मत में संसार का उपादान कारण सत्य नहीं हो सकता।

आत्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥६५॥

अर्थ---इस कारण आत्मा जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता कि वह निर्विकार है। यदि अविद्या को संसार का उपादान कारण मानें तो अविद्या भी संसार का उपादान कारण नहीं हो सकती, क्योंकि सत् मानें तो द्वैतापत्ति प्राप्त होती है और असत् मानने पर बन्ध्या के पुत्र के सदृश (समान) अभाव वाली हो जायगी, और आत्मा तथा अविद्या यह दोनों मिल कर संसार का उपादान कारण इस प्रकार नहीं हो सकते कि आत्मा संग रहित है, इस कारण ही जो एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते, उनके मत में संसार का उपादान कारण सिद्ध नहीं हो सकता है।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥

अर्थ -वेदादि सत् शास्त्र ईश्वर को सच्चिदानन्द कह कर पुकार रहे हैं, और जीव में आनन्द रूप होता नहीं है, इस कारण ईश्वर और जीव इन दोनों में भेद है।

प्र०---जीव में आनन्द तो माना ही नहीं गया है, तो मुक्ति का उपदेश क्यों कहा, क्योंकि मुक्ति अवस्था में दुःखों के दूर हो जाने पर आनन्द होता ही है ?

उ०---दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥

अर्थ---मुक्ति होने पर दुःख दूर हो जाते हैं, ऐसा कहना गौण है। यद्यपि मुक्ति होने पर दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु अल्पज्ञता तो जीव में उस समय भी बनी रहती है, इसलिये फिर भी दुःख उत्पन्न होने का भय बना ही रहता है, इस कारण जीव सर्वदा आनन्द में नहीं रहता है, अतः जीव को आनन्द-

स्वरूप नहीं कह सकते। आनन्दस्वरूप तो ईश्वर को ही कह सकते हैं।

प्र०—जब कि आप की मुक्ति ऐसी है कि जिसके होने पर भी फिर कुछ दिनों के बाद दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है तो ऐसी मुक्ति से बद्ध रहना ही अच्छा है।

उ०—विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—विमुक्ति (बद्ध रहना) की प्रशंसा मूर्ख लोग करते हैं, न कि विद्वान् लोग।

कोई कोई मन को नित्य मानते हैं, उनके मत का भी खण्डन करते हैं।

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—मन व्यापक नहीं है, क्योंकि मन को इन्द्रिय और करण माना है।

प्र०—करण किसको कहते हैं ?

उ०—जिसके द्वारा जो अपने कार्य करने में तैयार हो, जैसे कि मन के द्वारा जीवात्मा अपने कार्यों को करता है।

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥

अर्थ—मन क्रिया वाला है इसलिये मन हर एक इन्द्रियों के व्यापार और प्रवृत्ति का हेतु है, गति वाला भी है।

प्र०—यदि मन को नित्य नहीं मानते तो मत मानो, लेकिन निर्विभाग, कारण रहित तो मानना होगा।

उ०—न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जैसे घट आदि पदार्थ मृत्तिका (मिट्टी) के कार्य हैं इस ही तरह मन भी किसी का कार्य अवश्य है। जब कि कार्य निश्चय हो गया तो उसका कारण-योग भी अवश्य होगा।

प्र०—मन नित्य है या अनित्य ?

उ०—प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं, इस कारण से मन भी अनित्य है।

प्र०—प्रकृति और पुरुष इन दो को ही नित्य क्यों माना है ?

उ०—न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो आप ही कारण रूप है उसका और कोई कारण नहीं हो सकता, उसको तो सब ही कारण रहित मानते चले आये हैं; इस कारण प्रकृति, पुरुष दोनों नित्य हैं।

प्र०—पुरुष की मुक्ति क्यों मानी गई है ?

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥

अर्थ—प्रधान जो प्रकृति है उसको आनन्द की अभिव्यक्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती, इस कारण उसकी मुक्ति भी नहीं कह सकते; क्योंकि आनन्द प्रधान का धर्म नहीं है किंतु जीव का है।

उ०—न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सत्व, रज, तम, इनके नाश होने को ही यदि मुक्ति माना जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त सत्त्वादि तीन गुण प्रधान के स्वाभाविक धर्म हैं, उनका नाश होना प्रधान का धर्म नहीं है, इसलिये उसकी मुक्ति नहीं मानी जाती।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि विशेष गति ऊपर नीचे का जाना आना अर्थात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति इत्यादिक को ही मुक्ति मानें सो भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रधान तो क्रियाशून्य है जो कुछ उसमें क्रिया दीखती है वह सब पुरुष के संसर्ग (मेल) से है, परन्तु आप ऐसी शक्ति को नहीं रखता।

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

अर्थ—यदि आकार के सम्बन्ध को छोड़ देना ही मुक्ति मानें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें क्षणिकत्वादि दोष प्राप्त होते हैं। इस सूत्र का स्पष्टार्थ यह है—प्रकृति का आकार घड़ा है, उसका जो फूट जाना है उसको ही प्रकृति की मुक्ति मान लिया जाय सो यह कथन कुछ अच्छा नहीं है, क्योंकि क्षणिकत्वादि सैकड़ों दोष प्राप्त हो जायंगे, ऐसा मानने से, जैसे कि कोई घड़ा इस क्षण में टूट गया और फिर इसी क्षण में दूसरा बन गया, तो इत्यादि कारणों से प्रधान की मुक्ति कैसे हो सकती है ?

न सर्वोच्छित्तिः पुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—सबको छोड़ देना भी मोक्ष नहीं हो सकता। यदि प्रधान सम्पूर्ण (सब) सृष्टि आदि की रचना को छोड़ दे तो भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रधान के सब कार्य पुरुष के लिये हैं।

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

अर्थ—यदि सबको छोड़ देना ही प्रधान की मुक्ति का लक्षण मान भी लिया जाय तो वह मुक्ति शून्य रहेगी, क्योंकि आनन्द न रहेगा तो व्यर्थ है; इसलिये ऐसा न माना जाय।

प्र०—पुरुष के साथ रहने वाली प्रकृति किसी स्थान में पुरुष को छोड़ दे, इसको ही मुक्ति क्यों न माना जाय ?

उ०—संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादि-लाभोऽपि ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसका संयोग होता है उसका वियोग तो निश्चय ही होगा फिर किसी स्थान में जाकर छोड़ा तो क्या मुक्ति हो सकती है ? किसी सूरत में नहीं। इसी तरह जब प्रकृति और पुरुष का संयोग है तो वियोग भी जरूर होगा, फिर उसमें देश

की क्या जरूरत है, क्योंकि स्थान के प्राप्त होने से मुक्ति तो हो ही नहीं सकती।

न भागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥

अर्थ—प्रधान के भाग (अंश) जो महत्तत्वादिक हैं उनका भागी (प्रधान) में मिल जाना ही मुक्ति है, सो भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो उसमें मिलते ही हैं।

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥ ८२ ॥

अर्थ—पुरुष के योग से अणिमादि ऐश्वर्यों का योग होना भी प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका योग है उसका वियोग तो अवश्य ही होगा, जैसाकि दूसरे पदार्थों में मालूम होता है।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥ ८३ ॥

अर्थ—पुरुष के संयोग से इन्द्रादि पद की प्राप्ति का होना प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब नाशवान् हैं।

अब "अहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि" इस सूत्र में जो बात सूक्ष्म रूप से कही है उसको कहते हैं।

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो बात पृथ्वी आदि भूतों में विद्यमान है वह बात इन्द्रियों से नहीं दीखती, इस वास्ते इन्द्रियों को भौतिक नहीं कह सकते, किन्तु अहंकार से पैदा हुई हैं।

प्र०—सांख्य के मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष का ज्ञान होना ही मुक्ति का हेतु है, किन्तु वैशेषिकादिकों ने जो छः पदार्थ माने हैं उनके ज्ञान से मुक्ति क्यों नहीं हो सकती?

उ०—न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

अर्थ—पदार्थ छः ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं; किन्तु पदार्थ असंख्य (बेशुमार) हैं। अभाव जानने के वास्ते असंख्य पदार्थ हैं, तो छः पदार्थों के जानने से मुक्ति नहीं हो सकती।

षोडशादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—गौतमादिकों ने जो सोलह पदार्थ माने हैं और जिन जिन महर्षियों ने पच्चीस पदार्थ माने हैं उनके जान लेने से भी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि पदार्थ तो असंख्य हैं।

प्र०—वैशेषिकादिकों का मत क्यों दूषित माना गया है; क्योंकि वह वैशेषिकादिक पृथ्वी आदि के अणुओं को नित्य मानते हैं।

उ०—नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पृथ्वी आदि के अणुओं की नित्यता किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि श्रुतियाँ उनको कार्य रूप कहती हैं और एक युक्ति भी है। जब पृथ्वी आदि साकार हैं तो उनके अणु भी साकार हो सकते हैं। जब साकारता प्राप्त हो गई तो किसी के कार्य भी जरूर हुए, इस कारण पृथ्वी आदि के अणुओं को नित्य नहीं कह सकते। यहाँ अणु का अर्थ परमाणु नहीं, उससे स्थूल है।

प्र०—आप अणुओं को नित्य नहीं मानते तो मत मानों; लेकिन उनका कोई कारण नहीं दीखता, इस वास्ते उनको कारण रहित मानना चाहिये ?

उ०—न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥ ८८ ॥

अर्थ—जबकि अणु कार्य हैं तो कारण रहित कैसे हो सकते

हैं ? क्योंकि जो कार्य है उसका कारण भी अवश्य ही कोई न कोई होगा।

प्र०—जबकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही आकार रहित है जो उनका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि जब तक रूप न होगा तब तक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ?

उ०—न रूपनिबन्धात् प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥

अर्थ रूप के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता, यह कोई नियम नहीं है; क्योंकि जो बाहर की वस्तु है उसके देखने के वास्ते अवश्यमेव इन्द्रियों से योग की आवश्यकता रहती है, लेकिन जो ज्ञान से जाना जाता है उसको रूपवान् होने की कोई आवश्यकता नहीं है और नास्तिक लोग जो यह बात कहते हैं कि साकार पदार्थ को ही प्रत्यक्ष होता है, निराकार का नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जब नेत्र आदि इन्द्रियों में दोष हो जाता है तब सामने रक्खे हुए घट पटादि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे साबित होता है कि पदार्थ का स्वरूप होना प्रत्यक्ष होने में नियम नहीं, किन्तु इन्द्रियों की स्वच्छता हेतु है।

प्र०—आपने जो अणुओं को कार्यरूप कहकर अनित्य सिद्ध किया तो क्या अणु कोई वस्तु आपके मत में है या नहीं ? इस पर आचार्य अपना मत दिखाते हैं।

उ०—न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥ ९० ॥

अर्थ—जो मनुष्य अणु, महत, दीर्घ, ह्रस्व यह चार भेद मान कर परिमाण चार तरह के मानते हैं ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने को चार प्रकार के परिमाण मानते हैं वह बात अणु और महत् इन दो तरह के परिमाणों से भी सिद्ध हो सकती है। दीर्घ और ह्रस्व यह दो परिमाण महत्

परिमाण के अवान्तर (भीतर रहने वाले) भेद हैं। यदि गिनती बढ़ानी ही स्वीकार है तो एक तिरछा अणु, एक सीधा अणु, ऐसे ही बहुत से भेद हो सकते हैं; लेकिन ऐसा होना ठीक नहीं। और हमने जो अणुओं को अनित्य प्रतिपादन किया था वह सिर्फ पृथ्वी आदि के गुण को अनित्य कहा था; किन्तु अणु परिमाण द्रव्यों को अनित्य नहीं प्रतिपादन किया था, क्योंकि हम भी तो अणु नित्य मानते हैं।

प्र०—जब प्रकृति और पुरुष के सिवाय सबको अनित्य कहा तो प्रत्यभिज्ञा किस तरह हो सकती है, क्योंकि जब सब पदार्थों को नाशवान् मान लेंगे तब प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण पहले अध्याय में कह आये हैं।

उ०—अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति और पुरुष के सिवाय जितने सामान्य पदार्थ हैं वे सब ही अनित्य हैं तथापि हम उनको स्थिर मानते हैं, लेकिन क्षणिकवादियों के समान हर एक क्षण में परिवर्तन-शील (लौटना अर्थात् उलट-फेर) नहीं मानते हैं; इस वास्ते प्रत्यभिज्ञा हो सकती है।

न तदपलापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥

अर्थ—अतएव सामान्य पदार्थ कुछ न रहा ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि सामान्य पदार्थ नित्य नहीं हैं।

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३ ॥

अर्थ—सामान्य पदार्थों को अनित्य नहीं कह सकते हैं,

क्योंकि उनकी विद्यमानता दीखती है। आशय यह है कि जब आचार्य प्रकृति और पुरुष के सिवाय सबको अनित्य मानते हैं तो प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? इस शङ्का को दूर करने के वास्ते यह सूत्र कहा गया है कि सामान्य पदार्थ किसी प्रकार अनित्य नहीं हो सकते हैं; क्योंकि वे भी दीखते हैं।

प्र०—प्रत्यभिज्ञा के वास्ते जो सामान्य पदार्थों को स्थिर माना गया है उनको स्थिर मानने की क्या जरूरत है ? क्योंकि जिस पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा होती है उस तरह के दूसरे पदार्थ में भी प्रत्यभिज्ञा हो सकती है: जैसे—किसी वक्त में घड़े को देखा था कुछ दिनों बाद उसी सूरत का एक घड़ा और देखा उसमें भी यही बात घट सकती है कि जो घड़ा पहले देखा था वह ही यह है, क्योंकि घड़े तो दोनों एक ही सूरत के हैं ?

उ०—न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४ ॥

अर्थ—एक घड़े के समान दूसरा घड़ा प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि यह बात तो प्रत्यक्ष ही से दीखती है कि जो घड़ा पहिले देखा था उसमें, और अब देखा है इसमें, फर्क है इसलिये सदृश (समान) पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं है, इस कारण सामान्य पदार्थ और उनकी स्थिरता माननी पड़ेगी।

प्र०—जो शक्ति पहिले देखे हुए घड़े में है वही शक्ति इस समय दीखते हुए घड़े में है। उस शक्ति के ही प्रकाश होने से प्रत्यभिज्ञा क्यों न मानी जाय। क्योंकि सब घड़े एक ही शक्ति वाले होते हैं, इस वास्ते दूसरे घड़े के देखने से प्रत्यभिज्ञा को मानना ही चाहिये ?

उ०—निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ॥ ९५ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थों की शक्ति का प्रकाश होना प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि यह बात तो अर्थापत्ति से सिद्ध है। यदि सब घड़ों में समान (बराबर) शक्ति न होती तो उनका घड़ा नाम क्यों होता ? इस वास्ते समान आकृति और समान शक्ति प्रत्यभिज्ञा का हेतु नहीं हो सकती, किन्तु वही पदार्थ जो पहिले देखा है दूसरी बार देखने से प्रत्यभिज्ञा का हेतु हो सकता है। इस बात से सिद्ध हो गया कि सामान्य पदार्थ अनित्य होने पर भी स्थिर है और इसी से प्रत्यभिज्ञा भी होती है।

प्र०—एक घड़े में जो संज्ञा (नाम) संज्ञी (नाम वाला) सम्बन्ध है वही सम्बन्ध दूसरे घड़े में भी है फिर उसमें प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं होती ?

उ०—न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ९६ ॥

अर्थ—संज्ञा-संज्ञि का सम्बन्ध भी प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि ये भी अर्थापत्ति से जाना जा सकता है कि संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध सब घड़ों में बराबर है परन्तु इतने पर भी अनेक घड़ों में अनेक भेद रहते हैं, इस कारण प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती और संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध होने पर भी दूसरा पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि—

न सम्बन्धनित्यतो भयानित्यत्वात् ॥ ९७ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थों का सम्बन्ध नित्य नहीं है, क्योंकि संज्ञा और संज्ञी ये दोनों अनित्य हैं। तात्पर्य यह है कि जो घड़ा घट नाम से पुकारा जाता है उस घड़े के नाश होते ही उसकी संज्ञा का भी नाश हो जाता है क्योंकि उस घड़े के टूटने पर उस को फिर घड़ा नहीं कह सकते हैं किन्तु कपाल (ठीकरा) कह सकते हैं। जबकि फिर दूसरा घड़ा नजर आया तो उसकी दूसरी

घट संज्ञा हुई। दूसरी घट संज्ञा के होने में समता कहां रही जब समता ही नहीं है तो प्रत्यभिज्ञा कैसी ? क्योंकि वह प्रत्य-भिज्ञा उसी पदार्थ में होती है जिसको कभी पहले देखा हो, और जो घड़ा पहिले देखा था उसका तो नाश हो गया, जिसको अब देख रहे है वह दूसरा है, तो वह पहिले देखा हुआ नहीं हो सकता, इसी से प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती।

प्र०—सम्बन्धी अनित्य हो परन्तु सम्बन्ध तो नित्य ही मानना चाहिये ?

उ०—नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ६८ ॥

अर्थ—जबकि संज्ञा-संज्ञी दोनों ही अनित्य सिद्ध हुए तो उनका सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकता है ? क्योंकि सम्बन्ध जिन प्रमाणों से सिद्ध होता है उनसे ऐसा कहना नहीं बन सकता कि सम्बन्धी चाहे अनित्य हो पर सम्बन्ध को नित्य मानना चाहिये। उत्तर यह है कि यह बात किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकती कि सम्बन्धी तो अनित्य हो और सम्बन्ध नित्य हो।

प्र०—गुण और गुणी का नित्य समवाय सम्बन्ध शास्त्रों से सुना जाता है और वास्तव में वे दोनों अनित्य हैं, यह कैसे ठीक हो सकता है ?

उ०—न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है प्रमाण के न होने से।

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१००॥

अर्थ—घड़ा मिट्टी से बना है व बना होगा, इन दोनों तरह के ज्ञानों में अन्यथा सिद्ध है, इस वास्ते समवाय को मानने की कोई जरूरत नहीं। इस सूत्र का स्पष्ट भाव यह है कि घट का उपादान कारण मिट्टी है और यह बात प्रत्यक्ष दीखती है कि मिट्टी से ही

घड़ा बनता है और अनुमान भी किया जाता है। इस प्रकार यह भी उक्त (कहे हुए) प्रमाणों से सिद्ध (साबित) हुआ कि बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता है, इसलिये घट और मिट्टी का सम्बन्ध हुआ, लेकिन समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र०--यदि समवाय सम्बन्ध न माना जाय तो दो कपालों का संयोग (मेल) घट की उत्पत्ति में हेतु होता है, उसको क्या कहेंगे और इस बात का कैसे जानेंगे कि दो कपालों का संयोग घट की उत्पत्ति में हेतु है ? जिन दो अवयवों (टुकड़ों) के मिलने से घड़ा बनता है उनको कपाल कहते हैं ?

उ०--नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतो रेवापरोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥

अर्थ--क्रिया और क्रिया वाले का संयोग होकर वह बनता है, इन बात के जानने के लिये अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं है. क्योंकि पास रहनेवाले कुम्हार की प्रत्यक्ष क्रिया को देख कर ही जान लेते हैं कि दो कपालों के मिलने से घट बनता है, इसलिये जबतक वह घड़ा मौजूद रहेगा, तबतक सम्बन्ध भी जरूर रहेगा, इसके लिये समवाय सम्बन्ध के मानने की कोई जरूरत नहीं है।

दूसरे अध्याय में यह मतभेद कह चुके हैं कि शरीर पांचभौतिक है। अब उन मतों की सत्यासत्यता दिखाते हैं कि वे मत सच्चे हैं या झूठे।

न पांचभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥१०२॥

अर्थ--शरीर पांचभौतिक नहीं है अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश से शरीर की उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि बहुत से पदार्थ एक पदार्थ के उपादान कारण (जो जिससे बने, जैसे

मिट्टी से घड़ा बनता है) नहीं हो सकते; इस कारण शरीर को सिर्फ पार्थिव (पृथ्वी से बना हुआ) ही मानना चाहिये, और जो अग्नि आदि चार भूत इसमें कहे जाते हैं वे सिर्फ नाम-मात्र को ही हैं। कोई-कोई स्थूल शरीर को ही मानते हैं उसका भी खण्डन करते हैं।

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥ १०३ ॥

अर्थ—स्थूल शरीर ही है, ऐसा कोई नियम भी नहीं है, क्योंकि आतिवाहिक अर्थात् लिंग शरीर भी मौजूद है। यदि लिंग शरीर को न माना जाय तो स्थूल शरीर में गमनादि क्रिया ही नहीं हो सकती। इस बात को तीसरे अध्याय में विस्तार-पूर्वक कह आये हैं जैसे—तेल बत्ती रूप से उत्पन्न हुई दीप की शिखा सम्पूर्ण (सब) घर का प्रकाश कर देती है, इसी तरह लिंग शरीर भी स्थूल शरीर को अनेक व्यापारों में लगाता है, और इस बात को भी पहले कह आये हैं कि इन्द्रियां गोलकों से अतिरिक्त हैं, इसके साबित करने को ही इन्द्रियों की शक्ति कहते हैं।

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्व-प्राप्तेर्वा ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस पदार्थ का इन्द्रियों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है उसका इन्द्रियां प्रकाश नहीं कर सकतीं। यदि कर्म करती हैं तो देशान्तर (दूसरी जगह) में रक्खी कोई वस्तु का भी प्रकाश करना सिद्ध हो जायगा, परन्तु ऐसी बात न तो नेत्रों से देखी और न कानों से सुनी। इस सूत्र का स्पष्ट भाव यह है कि इन्द्रियां उसी पदार्थ को प्रकाश कर सकती हैं जिससे उनका

सम्बन्ध होता है, सम्बन्ध रहित प्रकाश करने में उनकी शक्ति नहीं है। यदि इन्द्रियों में यह शक्ति होती कि विना सम्बन्ध वाले पदार्थ को भी प्रकाश कर दिया करतीं तो देशान्तर के पदार्थ का भी प्रकाश करना कुछ मुश्किल न होता। और जब दूसरी जगह रक्खे हुए पदार्थों का नेत्र आदि इन्द्रियों को ज्ञान हो जाया करता है कि वह वस्तु अमुक स्थान में रक्खी है तो उनको सर्वज्ञता प्राप्त हो सकती है, इसलिये ईश्वर और इन्द्रियों में कुछ भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है और इन्द्रियां भी सर्वज्ञ हैं, ऐसा ही कहने में आवेगा। इस कारण यही बात माननी ठीक है कि नेत्र आदि इन्द्रियां उस वस्तु का ही प्रकाश कर सकती हैं जो उनको दीखती हैं।

प्र०—अपसर्पण (फैलाना) तेज का धर्म है और तेज पदार्थ का प्रकाश करता है। इसी तरह नेत्र को भी तेजस्वरूप मानना चाहिये; क्योंकि वह नेत्र भी पदार्थ का प्रकाश करता है।

उ०—न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥ १०५ ॥

अर्थ—निस्सन्देह तेज में फैलने की शक्ति है, परन्तु इससे चक्षु (आंख) को तेज स्वरूप नहीं कह सकते; क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने के लिये नेत्र को तेजस्वरूप मानने की जरूरत है वह बात इस रीति से सिद्ध हो सकती है कि जो नेत्र की वृत्ति है (जिससे कि पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है) उसी से पदार्थ का प्रत्यक्ष माना जाय।

प्राप्तार्थप्रकाशलिंगात् वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥

अर्थ—नेत्र का जिस पदार्थ से सम्बन्ध होता है उसको ही

प्रकाश करता है, इससे साफ-साफ सिद्ध होता है कि चक्षु की वृत्ति तेजस्वरूप है नेत्र तेजस्वरूप नहीं हैं।

प्र०—जब नेत्र का पदार्थ से सम्बन्ध होता है तब नेत्र की वृत्ति शरीर को बिना छोड़े उस पदार्थ पर कैसे जा पड़ती है ?

उ०—भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥ १०७ ॥

अर्थ—नेत्र आदि की वृत्ति पदार्थ के सम्बन्ध के वास्ते जाती है, इससे नेत्र का भाग (टुकड़ा) या रूप आदि गुण-वृत्ति नहीं हैं, किन्तु भाग और गुण इन दोनों से भिन्न (जुदा) एक तीसरे पदार्थ का नाम वृत्ति है; क्योंकि यदि चक्षु आदि के भाग का नाम वृत्ति होता तो एक-एक पदार्थ का एक-एक बार नेत्र से सम्बन्ध होने पर सहस्र-सहस्र नेत्र के टुकड़े होकर उसका नाश हो जाना योग्य था और यदि गुण का ही नाम वृत्ति होता तो गुण जड़ होते हैं, इस वास्ते वृत्ति का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ में चला जाना नहीं हो सकता था। अतः भाग और गुण इन दोनों से वृत्ति भिन्न एक पदार्थ है।

प्र०—ऐसे लक्षणों के करने से एक वृत्ति द्रव्य सिद्ध होता है तब इच्छा आदि जो बुद्धि के गुण हैं उनको वृत्ति क्यों माना है ? क्योंकि गुणों का नाम वृत्ति नहीं हो सकता।

उ०—न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८ ॥

अर्थ—वृत्ति द्रव्य ही है, यह नियम नहीं; क्योंकि अनेक वाक्यों में ऐसे विषय पर भी वृत्ति शब्द का व्यवहार देखने में आता है जहां पर द्रव्य का अर्थ नहीं हो सकता; जैसे—वैश्य वृत्ति; शूद्र वृत्ति इत्यादि। अतः हमने जिस विषय पर वृत्ति को

द्रव्य माना है उसी विषय पर द्रव्य है, और जगह जैसा अर्थ हो वैसा ही करना चाहिये। इस बात को भी पहिले कह चुके हैं कि पांचभौतिक शरीर सिर्फ नाममात्र ही है वास्तव में तो पार्थिव है। अब इस बात का विचार किया जाता है कि जिन इन्द्रियों के आश्रय से शरीर है वे इन्द्रियां जैसे कि हम लोगों की अहङ्कार से पैदा हैं वैसे ही और देशों के मनुष्यों की भी अहङ्कार से ही पैदा होती हैं पंचभूत से नहीं पैदा होतीं।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानतास्मदादिवन्नियमः ॥१०९॥

अर्थ—देश के भेद होने पर भी वस्तु का दूसरा उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे हम लोग और देशों में जाकर वास करने लगते हैं, परन्तु इन्द्रियां नहीं बदलतीं वे ज्यों की त्यों रहती हैं, हमारा देश ही तो पलट जाता है। यदि देश भेद ही इन्द्रियों के बदलने में वा और उपादान कारण करने में हेतु होता है तो हम लोगों की इन्द्रियां भी वहां जाकर जरूर बदल जातीं, लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ पांचभौतिक नहीं, किन्तु अहङ्कार से पैदा हैं।

प्र०—जब कि इन्द्रियों की अहङ्कार से उत्पत्ति है तो उनको भौतिक क्यों प्रतिपादन किया है ?

उ०—निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥

अर्थ—इन्द्रियों का निमित्त जो अहङ्कार है उससे ही पंचभूतों में भी इन्द्रियों का कारणत्व स्थापन किया जाता है, जैसे—आग यद्यपि काष्ठादि रूप नहीं है तथापि उसको लकड़ी की आग इत्यादि रूपों से पुकारते हैं; इसी तरह इन्द्रियां भी भौतिक नहीं हैं, तो भी उनको भौतिक कहते हैं।

प्र०—सृष्टि कितने प्रकार की है ?

उ०—छः प्रकार की, देखो—

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥ १११ ॥

अर्थ—(१) ऊष्मज (जो पसीने से पैदा होते हैं, जैसे लीख आदि); (२) अण्डज (जो अण्डे से पैदा होते हैं, जैसे मुर्गी आदि); (३) जरायुज (जो झिल्ली से पैदा होते हैं, मनुष्य आदि); (४) उद्भिज्ज (जो जमीन को फोड़कर पैदा होते हैं, पेड़ आदि); (५) सांकल्पिक (जैसे सृष्टि के आदि में बिना माता पिता के देवऋषि पैदा होते हैं); (६) सांसिद्धिक (जैसे खान में धातु बनते हैं)। आचार्य (कपिलजी) ने यही छः प्रकार की सृष्टि मानी है; लेकिन इन छः प्रकार के सिवाय और किसी तरह की सृष्टि नहीं है, ऐसा नियम भी नहीं; क्योंकि शायद किसी दशा में भूतों की सृष्टि इनसे अन्य प्रकार की हो। आचार्य के निश्चय (तहकीकात) से तो छः ही प्रकार की सृष्टि देखने में आती है।

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥ ११२ ॥

अर्थ—इन सब प्रकार की सृष्टियों का साधारण उपादान कारण पृथिवी है, इसलिये इनको पार्थिव कहना योग्य है, और जो पांचभूतों का व्यपदेश (नाम) सुना जाता है वह पूर्वकथन (पहिले कहा हुआ) के समान समझना चाहिये अर्थात् मुख्य उपादान कारण पृथिवी है और सब गौण हैं।

प्र०—इस शरीर में प्राण ही प्राधान (मुख्य) है, इसलिये प्राण को ही देह का कर्त्ता मानना चाहिये ?

उ०—न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ॥ ११३ ॥

अर्थ—शरीर का कर्त्ता प्राण नहीं हो सकता, क्योंकि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से अपने कार्य को करता है और इन्द्रियों के साथ प्राण का अन्वय-व्यतिरेक दृष्टान्त भी हो सकता है कि जब तक इन्द्रियां हैं तब तक प्राण हैं, जब इन्द्रियां नाश हो गईं तब प्राण भी नाश होगया, इसलिये प्राण को देह का कारण नहीं कह सकते।

प्र०—जबकि शरीर के बनने में प्राण कारण नहीं है तो बिना प्राण के भी शरीर की उत्पत्ति होनी चाहिये ?

उ०—भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात् ॥ ११४ ॥

अर्थ—भोक्ता (पुरुष) के व्यापार से शरीर का बनना हो सकता है। यदि वह प्राणों को अपने-अपने स्थान न लगावे तो प्राण-वायु कभी भी ठीक-ठीक रसों को नहीं पका सकता। जब रस ठीक तरह से न पकेंगे तो शरीर में सैकड़ों तरह के रोग पैदा हो जायंगे और दुर्गन्ध आने लगेगी। अतएव, यद्यपि प्राण कारण है लेकिन मुख्य कारण पुरुष को ही मानना चाहिये।

प्र०—जो अधिष्ठातृत्व (बनानेवालापन) पुरुष में माना जाता है वह अधिष्ठातृत्व यदि प्राण में ही माना जावे तो क्या हानि है ?

उ०—भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥ ११५ ॥

अर्थ—इस प्रकार हम भी पुरुष को अधिष्ठाता मानते हैं। जैसे राजा अपने भृत्यों (नौकरों) के द्वारा मकानादिकों को बन-

बाता है और वह मकानादि राजा के बनाये हुए हैं, इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध होते हैं और उन मकानों का मालिक भी राजा ही है। इसी प्रकार पुरुष भो प्राण और इन्द्रियों के द्वारा शरीर को चलाता है, परन्तु अकेला आप नहीं चलाता और विना उसके यह शरीर चल नहीं सकता,इससे वह अधिष्ठाता समझा जाता है।

अब इस से आगे पुरुष का मुक्त दशा में स्वरूप आदि कहते हैं।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता॥ ११६ ॥

अर्थ—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष को ब्रह्मरूपता हो जाती है अर्थात् जैसा ब्रह्म आनन्दस्वरूप है वैसे ही जीव भी आनन्दस्वरूप हो जाता है। इस सूत्र का अर्थ और टीकाकारों ने ऐसा किया है कि समाधि, सुषुप्ति, मोक्ष इन तीनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्म हो जाता है, परन्तु ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि रूप शब्द का सादृश्य अर्थ है, जैसा कि अमुक मनुष्य देवस्वरूप है इसके कहने से यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है कि यह देव नहीं है, किन्तु देवताओं के-से उसमें गुण हैं। (विद्वांसो हि देवाः) जो विद्वान् हैं उनको ही देवता कहते हैं, इस बात को कह चुके हैं। इसी से उसको देवस्वरूप कहा गया। यदि देवता ही कहना स्वीकार होता अमुक मनुष्य देवता है इतना ही कहना योग्य था; इसलिये इस कहे हुए सूत्र में भी ब्रह्मरूप कहने से यह प्रयोजन है कि जीव में ब्रह्म के-से कितने ही गुण इन अवस्थाओं में हो जाते हैं, परन्तु जीव ब्रह्म नहीं हो जाता है। यदि आचार्य को भी यही बात स्वीकार होती कि उक्त जीव ब्रह्म हो जाता है तो 'ब्रह्मरूपता' न कहते, किन्तु "ब्रह्मत्वम्" ऐसा कहते। जो ब्रह्म को और जीव को एक मानते हैं उनका मत इस ज्ञापक से दूषित हुआ।

प्र०—जब समाधि और सुषुप्ति में भी आनन्द प्राप्त हो जाता है, तो मुक्ति के लिये उपाय करने की क्या जरूरत है, और मुक्ति में अधिक कौनसी बात रही है ?

उ०—द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ ११७ ॥

अर्थ—समाधि और सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है वह थोड़े ही समय के लिये होता है और उसमें बन्ध भी बना रहता है। मोक्ष का आनन्द बहुत समय तक बना रहता और बंध का भी नाश हो जाता है, यह ही भेद समाधि और सुषुप्ति इन दो तरह के आनन्दों और मोक्ष के आनन्द में है।

प्र०—समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखती हैं, परन्तु मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं दीखता; इसलिये इसमें आनन्द न कहना चाहिये।

उ०—द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥ ११८ ॥

अर्थ—जैसे समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखती हैं, वैसे ही मोक्ष भी प्रत्यक्ष दीखता है। वह प्रत्यक्ष इस प्रकार होता है कि जब तक मनुष्य किसी कर्म को करके उसका फल नहीं भोग लेता है, तब तक उस कर्म के साधन करने के लिये उसकी नीयत नहीं होती; जैसे—पहले भोजन कर चुके हैं तो दूसरे दिन भी भोजन करने के लिये उपाय किया जाता है। इसी तरह जब पहिले कभी जीव मोक्ष के सुख को जान चुका है तब फिर भी मोक्ष-सुख के लिये उपाय करने की नीयत होती है। यदि यह कहा जावे कि इस जन्म में जिस मनुष्य ने कभी राज्य सुख नहीं भोगा है, परन्तु उसकी यह इच्छा रहती है कि राज्य का सुख प्राप्त हो। इसका यह उत्तर है कि राज्य में जो सुख होता है उसको तो नेत्रों से देखते हैं। इससे यह साबित हुआ कि या तो मोक्ष

का सुख कभी आप उठाया है अथवा किसी को मोक्ष से आनन्दित देखा है, इसलिये उसकी मोक्ष सुख में नीयत होती है, यही प्रत्यक्ष प्रमाण है, और अनुमान से इस प्रकार मोक्ष को जान सकता है कि सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है उसको नाश करनेवाले चित्त के रागादि दोष हैं और वे रागादिक ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार नाश नहीं हो सकते हैं। जब ज्ञान प्राप्त हो जायगा तब सुषुप्ति आदि सब अवस्थाओं की अपेक्षा जिसमें अधिक समय तक आनन्द की प्राप्ति हो, ऐसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

प्र०—समाधि में तो वैराग्य से कर्मों की वासना कमती हो जाती है, इस वास्ते समाधि में तो आनन्द प्राप्त हो सकता है; परन्तु सुषुप्ति में वासना प्रबल होती है, तो पदार्थों का ज्ञान भी अवश्य होगा अर्थात् वासनायें अपने विषय की तरफ खेंचकर उनमें जीव को लगा देंगी। जब पदार्थ का ज्ञान रहा तो आनन्द प्राप्ति कैसी?

उ०—वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—जैसे वैराग्य में वासना कमती होकर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती, इसी तरह निद्रा-दोष के योग से भी वासना अपने विषय की ओर नहीं खींच सकती; क्योंकि वासनाओं का निमित्त जो संस्कार है वह निद्रा के दोष से बाधित हो चुका है, इस वास्ते सुषुप्ति में भी समाधि की तरह आनन्द रहता है। पहले इस बात को कह चुके हैं कि संस्कार के लेश से जीवन्मुक्त शरीर बना सकता है।

प्र०—जब संस्कार से शरीर बना रहता है वह एक ही संस्कार

उस जीव के प्राण धारणरूपी क्रिया को दूर कर देता है वा जुदी-जुदी क्रियाओं के वास्ते जुदे-जुदे संस्कार हैं ?

उ०—एकः संस्कारः क्रियानिवर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस संस्कार से शरीर का कार्य चल रहा है वह एक ही संस्कार निवृत्त होकर शारीरिक क्रियाओं को भी दूर कर देता है। हर एक क्रिया के वास्ते अलग-अलग संस्कार नहीं मानने चाहियें, क्योंकि बहुत से संस्कार हो जायंगे और उन बहुत से संस्कारों का होना व्यर्थ है।

प्र०—सुषुप्ति अवस्था में बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, इस कारण उस दशा में शरीर को भोगायतन मानना ठीक नहीं।

उ०—न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पति-तृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जिसमें बाह्य बुद्धि होती है उसको शरीर कहते हैं, यह नियम भी नहीं है; क्योंकि मृतक शरीर में बाह्य बुद्धि नहीं होती है तो क्या उसको शरीर नहीं कह सकते हैं। और वृक्ष,गुल्म, औषधि, वनस्पति, तृण, वीरुध आदिकों में बहुत से जीव भोग के निमित्त रहते हैं और उनका बाहर के पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, यदि बाहर के पदार्थों के ज्ञान से ही शरीर माना जावे तो उनके शरीर को शरीर न मानना चाहिये।

प्र०—क्या वृक्ष में जीव है कि नहीं ?

उ०—वृत्त में जीव नहीं है किन्तु यहां वृत्त में रहने वाले जीव से अभिप्राय है, क्योंकि गूलर आदि के फलों में जो जीव रहते हैं उनको बाहर के पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं होता।

प्र०—यदि वृत्त में जीव न हो तो वह बढ़ नहीं सकता?

उ०—बढ़ना, घटना, जीव का धर्म नहीं प्रकृति का धर्म है; क्योंकि संयोग से चीजें बढ़ती और वियोग से घटती हैं, यहां तक कि पत्थर और पहाड़ भी बढ़ते हैं।

प्र०—जिनमें जीव है वे अन्दर से बढ़ते हैं और जिनमें नहीं वे बाहर से बढ़ते हैं। चूंकि वृत्त अन्दर से बढ़ते हैं इस वास्ते इनमें जीव मानना चाहिये?

उ०—यह कोई नियम नहीं कि जो अन्दर से बढ़ते हैं उनमें अवश्य जीव हो, किन्तु जो चीज आग के सबब से बढ़ती है वह अन्दर से बढ़ती है, और जो पानी के सबब से बढ़ती है वह बाहर से बढ़ती है।

प्र०—अन्दर से बढ़ने वाली चीज नजर नहीं आती?

उ०—चने जब उबाले जाते हैं तब अन्दर से बढ़ते हैं, यहां तक कि पहले से दूने बढ़ जाते हैं।

प्र०—वृत्त में जीव मानने से क्या संदेह उत्पन्न होते हैं?

उ०—पहले तो यह संदेह होगा कि एक वृत्त में जितने फल हैं उन सब में एक जीव है या बहुत से जीव हैं। यदि कहो कि एक जीव है तो बीज के टूटने से उससे वृत्त पैदा नहीं हो सकता और यदि बहुत जीव हैं तो एक शरीर के अभिमानी बहुत से जीव नहीं हो सकते।

प्र०—जड़ पदार्थों के सदृश बाहरी ज्ञान से पृथक् हो जाता है उसमें क्या प्रमाण है?

उ०—स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥

अर्थ—"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" शरीर से पैदा हुए कर्म के दोषों से मनुष्य स्थावर योनि को प्राप्त होता है, इस बात को स्मृतियां कहती हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्थावर भी शरीरी है ?

प्र०—जब कि वृत्तादिकों को भी शरीरधारी मानते हो तो उनमें धर्माधर्म मानने चाहियें ?

उ०—न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्य-श्रुतेः ॥ १२३ ॥

अर्थ—देहधारी मात्र को शुभाशुभ कर्मों का अधिकार नहीं दिया गया है, किन्तु श्रुतियों ने मनुष्य जाति को ही धर्माधर्म का अधिकार प्रतिपादन किया है। देह के भेद से ही कर्म-भेद है, इस बात को आगे के सूत्र से सिद्ध करते हैं।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहो-भयदेहाः ॥ १२४ ॥

अर्थ—उत्तम, मध्यम, अधम, इन तीन तरह के शरीरों की तीन व्यवस्था है और उनके वास्ते ही धर्म आदि अधिकार हैं। एक कर्म-देह जो सिर्फ कर्मों के करते-करते ही पूरा हो जाय जैसे अनेक ऋषि-मुनियों का जन्म तप के करने ही में पूरा हो जाता है। दूसरा उपभोग देह जैसे अनेक पशु-पत्ती, कीटादि का शरीर कर्मफल भोगते भोगते ही पूरा हो जाता है। तीसरा उभय-देह है, जिसने कर्म भी किये हों और भोग भी भोगे हों, जैसे सामान्य मनुष्यों का शरीर। केवल दो प्रकार के देहों के लिये कर्म की विधि है, भोग योनि के वास्ते नहीं। मनुष्यों के

अतिरिक्त और सब उपभोग देह अर्थात् भोग योनि हैं; इसलिये उनको धर्म्माधर्म का विधान नहीं है।

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ॥ १२५ ॥

अर्थ-जो मुक्त हो गया है उसके वास्ते कोई भी विधान नहीं है, और न उसको किसी विशेष नाम से कह सकते हैं।

प्र०—जीव को इस शास्त्र में नित्य माना है तो उस जीव के आश्रय में रहनेवाली बुद्धि को भी नित्य मानना चाहिये ?

उ०—न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥ १२६ ॥

अर्थ—यद्यपि बुद्धि आदि का आश्रय जीव नित्य है तो भी बुद्धि आदि नित्य नहीं हैं; जैसे चन्दन का काठ शीत प्रकृतिवाला होता है परन्तु आग के संयोग होने पर उसकी शीतलता आग में नहीं हो सकती।

आश्रयासिद्धेश्च ॥ १२७ ॥

अर्थ—जीव बुद्धि का आश्रय हो ही नहीं सकता। इनका सम्बन्ध इस तरह है, जैसे स्फटिक और फूल का है; इस वास्ते प्रतिबिम्ब कहना चाहिये, आश्रय नहीं। इस विषय पर यह संदेह होता है कि आचार्य योग की सिद्धियों को सच्ची मानते हैं और उनके द्वारा मुक्ति को भी मानते हैं; परन्तु योग की ऐसी भी सैकड़ों सिद्धियां हैं जो समझ में नहीं आतीं। इस विषय पर आचार्य आप ही कहते हैं।

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥१२८॥

अर्थ—जैसे औषधियों की सिद्धि होती है अर्थात् एक-एक औषध से अनेक रोगों की शान्ति होती है, इसी तरह योग की सिद्धियों को भी जानना चाहिये । कपिलाचार्य पुरुष को चैतन्य मानते हैं, अतएव जो पृथ्वी आदि भूतों को चैतन्य मानते हैं उनके मत को दोषयुक्त ठहरा कर अध्याय को समाप्त करते हैं ।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥ १२९ ॥

अर्थ—मिलने पर भी भूतों में चैतन्य नहीं हो सकता। यदि उनमें चेतनता होती तो उनके अलग-अलग होने पर भी दीखती; किन्तु पृथक् होने पर उनको जड़ देखते हैं तो चेतन कैसे मानें ? "सांहत्येऽपि च" ऐसा दो बार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

इति सांख्यदर्शने पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

———

षष्ठोऽध्यायः

पहिले पांच अध्यायों में महर्षि कपिल जी ने अनेक प्रकार के प्रमाण और युक्तियों से अपने मत का प्रतिपादन और अन्य मतों का खण्डन किया। अब इस अन्त के छठे अध्याय में अपने सिद्धान्त को बहुत सरल रीति पर कहेंगे कि जिससे इस दर्शन-शास्त्र का सार विना प्रयास अर्थात् थोड़ी मेहनत से ही समझ में आ सके और जो बातें पहिले अध्यायों में कह आये हैं अब

उन वातों को ही साररूप से कहेंगे कि जिससे इस दर्शन का सम्पूर्ण सार साधारण मनुष्यों की समझ में भी आजाया करे (या आजावे); इसलिये उन वातों का पुनः कहना पुनरुक्ति नहीं हो सकता है।

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ १ ॥

अर्थ—आत्मा कोई पदार्थ अवश्य है, क्योंकि न होने में कोई प्रमाण नहीं दीखता।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा देहादिकों से भिन्न पदार्थ है क्योंकि उस आत्मा में विचित्रता है।

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

अर्थ—मेरा यह शरीर है, इस षष्ठीव्यपदेश से भी आत्मा का देह से भिन्न पदार्थ होना सिद्ध है। यदि देहादिक ही आत्मा होते तो मेरा यह शरीर है ऐसा कहना नहीं हो सकता। ऐसे कहने से ही प्रतीत होता है कि 'मेरा यह' कोई और वस्तु है, यह शरीर कोई और पदार्थ है, एक नहीं।

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमाने बाधात् ॥ ४ ॥

अर्थ—शिला के पुत्र का शरीर है, इस प्रकार यदि षष्ठी का अर्थ किया जावे तो भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मिग्राहक अनुमान से बाध की प्राप्ति आती है। (भाव इसका यह है कि) यदि ऐसा कहा जाय कि पत्थर का पुत्र अर्थात् जो पत्थर है वही पत्थर का पुत्र है, इसमें कोई भी भेद नहीं दीखता। इसी प्रकार जो आत्मा है वही शरीर है, ऐसा यदि षष्ठी का अर्थ किया जावे तो भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण

देखने में नहीं आता जो शिला में पिता पुत्र के भाव को सिद्ध करता हो।

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥ ५ ॥

अर्थ—दुःख के अत्यन्त निवृत्त होने से अर्थात् बिलकुल दूर होने से मोक्ष होता है।

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार पुरुष को दुःखों से क्लेश होता है उसी प्रकार सुख से उसकी अभिलाषा नहीं होती अर्थात् सुखों से अभिलाषाओं का पूरा होना नहीं होता क्योंकि सुख भी प्रायः दुःखों से मिले हुए हैं।

न कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥

अर्थ—कहीं पर भी कोई सुखी नहीं दीखता, किन्तु सुखी दुःखी दोनों प्रकार से दीखते हैं।

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार कुछ थोड़ा बहुत सुख प्राप्त भी हुआ तो भी सुख-दुःख के निश्चय करनेवाले विद्वान् लोग उस सुख को भी दुःख में गिनते हैं, क्योंकि उसमें भी दुःख मिले हुए होते हैं; जैसे—विष का मिला हुआ मिष्ट पदार्थ (मीठी चीज); इस वास्ते सांसारिक सुख को छोड़कर मोक्ष-सुख के वास्ते उपाय करना चाहिये।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ॥९॥

अर्थ—जबकि किसी को भी सुख प्राप्त नहीं होता तो मुक्ति के वास्ते उपाय करना निष्फल है, क्योंकि मुक्ति में भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता, ऐसा न समझना चाहिये। सुख भी दो प्रकार के हैं-एक मोक्ष है, वह सुख और प्रकार का है, उसमें किसी प्रकार के दुःख का मेल नहीं है। दूसरा सांसारिक सुख है, वह और ही प्रकार का है, क्योंकि उसमें दुःख मिले हुए रहा करते हैं।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥ १० ॥

अर्थ—मुक्ति अवस्था में आत्मा निर्गुण रहता है। सांसारिक दशा में लौकिक सुख आत्मा को बाधा पहुंचाते हैं मुक्ति अवस्था में आत्मा को असंग अर्थात् विकृति के संग से रहित श्रुतियों द्वारा सुना गया है।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि सांसारिक दशा में गुणों का सर्वदा पुरुष में ही बोध होता है, परन्तु उस प्रकार का बोध अविवेक से पैदा होता है, क्योंकि जो अविवेकी है वही सांसारिक कर्मों को पुरुषकृत मानते हैं, परन्तु वास्तव में वह प्रकृति और पुरुष के संयोग से होते हैं; इसलिये संयोगजन्य हैं।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥

अर्थ—अविवेक को प्रवाहरूप से अनादि मानना चाहिये, यदि सादि मानोगे तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि उसको किसने पैदा किया? यदि प्रकृति और पुरुष से पैदा हुआ तब उनसे ही पैदा हुआ और उनका ही बंध करे, यह दोष होगा। दूसरा यह

प्रश्न हो सकता है—यदि कर्मों से इसकी उत्पत्ति मानें तो इस प्रश्न को अवकाश मिलता है कि कर्म किससे उत्पन्न हुए हैं; इसलिये इन दोनों दोषों के दूर करने के लिए अविवेक को अनादि मानना चाहिये।

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ—अविवेक नित्य नहीं हो सकता। यदि नित्य ही माना जायगा तो उसका नाश हो सकेगा; जैसे—आत्मा का नाश नहीं होता है और उस अविवेक के नाश न होने से मुक्ति न हो सकेगी, इसलिये अविवेक को प्रवाहरूप से अनादि (अनित्य) मानना चाहिये।

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह अविवेक भी प्रतिनियत कारण से नाश हो जाता है, इसलिये अनित्य है; जैसे—अंधेरा प्रकाश रूप प्रतिनियत कारण से नाश हो जाता है, इसलिये वह अविवेक नित्य नहीं हो सकता।

प्र०—प्रतिनियत कारण किसको कहते हैं ?

उ०—जिससे उस कार्य की उत्पत्ति वा नाश हो जाय, जैसा—अन्धेरे के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये।

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस अविवेक के नाश करने में भी प्रतिनियम (जिस से अवश्य नाश हो जाय) अन्वय व्यतिरेक से निश्चय कर लेना चाहिये। वह अन्वय यही है कि विवेक के होने से इसका नाश और विवेक के न होने से अविवेक का होना प्रतीत होता है, यही अन्वय व्यतिरेक कहने का तात्पर्य है।

प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बंधः ॥ १६ ॥

अर्थ—सिवाय अविवेक के जब कोई और प्रकार बन्ध में हेतु नहीं दीखता तो ऐसा मानना ही ठीक है कि अविवेक ही बन्ध है और विवेक ही मोक्ष है। कोई वादी इन तीन सूत्रों से जोकि आगे कहे जायंगे मुक्ति सम्बन्ध में पूर्व-पक्ष करता है।

प्र०—न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—मुक्त को फिर बन्ध योग नहीं होता अर्थात् जो मुक्त हो चुका है वह फिर नहीं बंध सकता है क्योंकि "न स पुनरावर्त्तते" (वह फिर नहीं आता है), इस श्रुति से मुक्त होने पर नहीं आता, ऐसा सिद्ध होता है।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि मुक्त का बन्ध योग माना जाय तो अपुरुषार्थत्व सिद्ध होता है।

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥

अर्थ—बद्ध और मुक्त में अविशेषापत्ति अर्थात् बराबरी प्राप्त होती है क्योंकि जो मुक्त नहीं है वह अब बंधा हुआ है और जो मुक्त हो जायगा उसको फिर बन्ध प्राप्त हो जायगा।

उ०—मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार कि मुक्ति का वादी ने पूर्व-पक्ष किया, उस प्रकार की मुक्ति को आचार्य नहीं मानते, किन्तु अन्तरायों के (विघ्नों के) ध्वंस (नाश) हो जाने के सिवाय और किसी प्रकार की मुक्ति आचार्य नहीं मानते।

तत्राप्यविरोधः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो श्रुति आदिकों का दोष प्रतिपादन किया वह योग्य नहीं, क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर मुक्त की भी पुनरावृत्ति लिखी है कि मुक्त फिर लौट आता है। शंकराचार्य ने भी इस श्रुति का अर्थ इस कल्प में लौटना माना है, इसलिये मुक्ति से फिर बंधता नहीं, ऐसा कहना योग्य नहीं हो सकता। दूसरा यह जो दोष कहा कि पुनर्बन्ध होने से बद्ध मुक्त दोनों बराबर हो जायेंगे सो भी योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य रोगी है उसकी बराबरी नीरोगी के साथ किसी प्रकार नहीं हो सकती और जो नीरोगी है वह भी कालान्तर (कुछ दिनों के बाद) में रोगी हो सकता है परन्तु यह विचार करके यह भविष्यत (अगाड़ी के समय में) रोगी होगा, अतः रोगी के ही बराबर है, उसके साथ भी रोगी का सा व्यवहार नहीं कर सकते। इस लिये न तो मुक्त की पुनरावृत्ति मानने से श्रुति से विरोध प्राप्त होता है और न युक्ति से ही विरोध होता है।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२ ॥

अर्थ—उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं इस कारण यह कोई नियम नहीं है कि श्रवण, मनन आदि संयोग से सबकी ही मुक्ति हो।

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अज्ञ हैं उनको दृढ़ता के लिये उचित है कि श्रवण, मनन आदि योग के अंगों का अनुष्ठान करें तो कुछ दिनों के बाद मुक्ति को प्राप्त हो सकेंगे।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसमें सुख स्थिर हो वो ही आसन है, इस बात को

पहिले कह आये हैं अतः पद्मासन, मयूरासन इत्यादिक भी मोक्ष के साधन हैं या योग के अंगों में उनकी गिनती है यह नियम नहीं है।

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसमें मन निर्विषय हो जाय उसी का नाम ध्यान है और, यह ध्यान ही समाधि का लक्षण है। अब समाधि और सुषुप्ति के भेद को दिखाते हैं।

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥ २६ ॥

अर्थ—समाधि और सुषुप्ति इन दोनों में अविशेष अर्थात् समानता है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि समाधि में उपराग (विषय-वासना) को रोकना पड़ता है इसलिये सुषुप्ति की अपेक्षा समाधि विशेष है।

निःसंयोगेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥ २७ ॥

अर्थ—यद्यपि पुरुष निःसंग है तथापि अविवेक के कारण उसमें विषयों की वासनाएं माननी चाहियें।

जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥ २८ ॥

अर्थ—जैसे जपा का फूल और स्फटिकमणि को पास रखने से उपराग होता है, वैसा उपराग पुरुष में नहीं है किन्तु अविवेक के कारण से पुरुष में विषय-वासनाओं का अभिमान कहना चाहिये।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदिकों से विषय-वासनाओं का निरोध (रुकावट) हो सकता है।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३० ॥

अर्थ—लय (सुषुप्ति),विक्षेप (स्वप्न) इन दोनों अवस्थाओं के निवृत्त होने से विषय-वासनाओं का निरोध हो जाता है, यह आचार्यों का मत है।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समाधि आदि के करने के वास्ते स्थान का कोई नियम नहीं है, जहां चित्त प्रसन्न हो वहीं समाधि हो सकती है।

प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपादान कारण प्रकृति को ही माना है, महदादिकों को प्रकृति का कार्य माना है।

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योगत्वाऽभावात् ॥ ३३ ॥

अर्थ—आत्मा नित्य भी है तो भी उसको उपादान कारण कहना केवल भूल है। क्योंकि जो बातें उपादान कारण में होती हैं वे बातें आत्मा में नहीं दीखतीं (स्पष्ट भाव यह है) यदि आत्मा ही सबका उपादान कारण होता तो पृथ्वी आदि सब चैतन्य होने चाहियें थे, परन्तु यह बात देखने में नहीं आती।

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रुतियों के विरोध से आत्मा के सम्बन्ध में कुतर्क (खोटे प्रश्न) करते हैं उनको किसी प्रकार आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—परम्परा सम्बन्ध से भी प्रकृति को ही सबका कारण मानना चाहिये; जैसे-घटादिकों के कारण अणु हैं और अणुओं

का कारण परमाणु है, इसी तरह परम्परा सम्बन्ध से भी सबका कारण प्रकृति ही है।

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ--प्रकृति के कार्य सब जगह दीखते हैं इस कारण प्रकृति विभु है।

गतियोगेऽप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीर में गमनादि क्रियायों का योग है तो भी उसका आद्य कारण (पहिला सबब) अवश्य मानना होगा; जैसे-अणु यद्यपि सूक्ष्म हैं तथापि उनका कारण अवश्य ही माना जाता है।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥ ३८ ॥

अर्थ—प्रसिद्धता तो प्रकृति की दीखती है, इससे अधिक द्रव्यों को मानने का नियम ठीक नहीं है क्योंकि कोई तो नौ द्रव्य मानते हैं, कोई सोलह द्रव्य मानते हैं, इस कारण उनका कोई नियम ठीक नहीं है और प्रकृति के सब कार्य दीख रहे हैं; इस लिये उसको ही कारण मानना चाहिये।

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९ ॥

अर्थ--सत्व, रज, तम, यह प्रकृति के धर्म नहीं हैं किंतु प्रकृति के रूप हैं। सत्त्वादि रूप ही प्रकृति है।

अनुपभोगेऽपि पुरुषार्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुम-वहनवत् ॥ ४० ॥

अर्थ--यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टि का आप भोग नहीं करती तथापि उसकी सृष्टि पुरुष के लिये है; जैसे-ऊंट अपने स्वामी के लिये केशर को ले जाता है, ऐसे ही प्रकृति भी सृष्टि करती है।

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—प्रत्येक मनुष्य के कर्मों की वासनायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, इस कारण से प्रकृति की सृष्टि भी अनेक प्रकार की होती है, एक-सी नहीं होती है।

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—समता और विषमता के कारण उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जब प्रकृति की समता होती है तब उत्पत्ति, और जब विषमता होती है, तब प्रलय होता है। यही बात संसार में दीख रही है कि जिन दो औषधि (दवाइयों) को बराबर भाग मिलाकर यदि खाया जाता है तो लाभ होता है और कमती-बढ़ती मिलाकर खाने से बिगाड़ होता है।

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥ ४३ ॥

अर्थ–जब प्रकृति को इस बात का ज्ञान हो जाता है यह पुरुष मुक्त हो गया, फिर उसके वास्ते सृष्टि को नहीं करती है, यह बात लोक के समान समझनी चाहिये; जैसे--कोई मनुष्य किसी को बन्धन में से छुड़ाने का उपाय करता है, जब वह उस बन्धन से छुड़ा देता है तो उस उपाय से निश्चिन्त हो बैठता है, क्योंकि जिसके लिये उपाय किया था वह कार्य पूरा हो गया।

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती है परन्तु मुक्त को बद्ध नहीं करती, क्योंकि जिस निमित्त से प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती थी वह अविवेक जीवों में नहीं रहता है।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जीव बहुत हैं; क्योंकि प्रत्येक शरीर में उनकी अलग-अलग व्यवस्था होती है।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि ऐसा कहा जाय कि सूर्य एक है, परन्तु उसकी छाया के अनेकों स्थानों में पड़ने से अनेक सूर्य दीखने लगते हैं; इसी प्रकार ईश्वर एक है किन्तु शरीररूपी उपाधियों के होने से अनेकता है तो भी ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो एक ब्रह्म के सिवाय और दूसरे को मानते ही नहीं हैं यदि वह लोग ब्रह्म और उपाधि को मानेंगे तो अद्वैतवाद न रहेगा, किन्तु द्वैतवाद हो जायगा।

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यदि दोनों ही मानें तो प्रमाण से विरोध होता है, क्योंकि यदि उपाधि को सत्य मानें तो जिन प्रमाणों से अद्वैत की सिद्धि करते हैं उनसे विरोध होगा। यदि उपाधि को मिथ्या मानें तो जिन प्रमाणों से उपाधि को सिद्ध करते हैं उनसे विरोध होगा। अब इस विषय पर आचार्य अपना मत कहते हैं:—

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥ ४८ ॥

द्वैत, अद्वैत इन दोनों से हमारा कोई विरोध नहीं है; क्योंकि ईश्वर अद्वैत तो इसलिये है कि उसके बराबर और कोई नहीं है। द्वैत इस वास्ते है कि जीव और प्रकृति के गुण ईश्वर की अपेक्षा और प्रकार के मालूम होते हैं, इस वास्ते ऐसा न कहना

चाहिये कि पहिला पक्ष सत्य है वा दूसरा; क्योंकि एक पक्ष की पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण नहीं दीखता, किन्तु जीव और ईश्वर के पार्थक्य सिद्ध करने वाले प्रमाण दीखते हैं।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥ ४९ ॥

अर्थ - ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है इसलिए जो चाहे सो कर सकता है अर्थात् चाहे तो घटादि रूप हो जाय। इस प्रमाण से यदि ब्रह्म को घटादि रूप कहकर अद्वैतवाद की सिद्धि की जाय तो कर्त्ता और कर्म का विरोध होगा; क्योंकि ऐसा कहीं नहीं देखने में आता कि कर्त्ता कर्म हो गया हो; जैसे—घट का कर्त्ता कुम्हार है और उस कुम्हार का कर्म घट (घड़ा) है, तो दोनों को भिन्न-भिन्न पदार्थ मानना होगा, ऐसा नहीं कह सकते कि कुम्हार ही घट है।

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

अर्थ—जीव जड़ पदार्थों में मिलकर उनको भी प्रकाशित कर देता है, इस वास्ते वह प्रकाशस्वरूप है; क्योंकि यदि जीव में प्रकाश करने की शक्ति न होती तो शरीर में गमनादिक क्रियायें न हो सकती थीं।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥

अर्थ—जिन श्रुतियों से अद्वैत की सिद्धि होती है उनसे और जो द्वैत को सिद्ध करती हैं उनसे कुछ भी विरोध न होगा; क्योंकि जो ईश्वर को छोड़कर जीव वा शरीर को ईश्वर मानते हैं उनको समझाने के लिये वे श्रुतियां हैं अर्थात् ईश्वर को उन श्रुतियों में अद्वैत अद्वितीय एक आदि विशेषणों से इसलिये कहा है कि उसके समान दूसरा और कोई नहीं है; अतः द्वैत के मानने से श्रुतियों से विरोध नहीं होता।

जगत् सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधका-भावात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जगत् सत्य है, क्योंकि इसका कारण नित्य है और किसी समय में भी इसका बाध (रोक) नहीं दीखता है। इस सूत्र का आशय पहिले अध्याय में कह आये हैं, इसलिये विस्तार नहीं किया है।

प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जबकि प्रकृति के सिवाय और कोई कारण इसका दीखता नहीं तो ऐसा कहना चाहिये कि इसकी उत्पत्ति असत् पदार्थ से नहीं है, किन्तु सत् पदार्थ से ही है।

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ ५४ ॥

अर्थ—संकल्प-विकल्प आदियों का कर्त्ता अहंकार है, किन्तु जीव नहीं है; क्योंकि जो विचार बुद्धि में उत्पन्न होता है उसके बाद मनुष्य कार्यों के करने में लगता है और उस बुद्धि को पुरुष का प्रतिबिम्ब ही प्रकाश करता है।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिसका अन्त जीव में हो उसको भोग कहते हैं, वे भोग जीव के कर्मों से होते हैं, इस कारण भोगों का अन्त जीव में मानना चाहिये।

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥ ५६ ॥

अर्थ - चन्द्रलोक के जीवों में भी आवृत्ति दीखती है, क्योंकि जिस निमित्त से मुक्ति और बन्ध होते हैं वह वहां के जीवों में भी बराबर ही दीखते हैं। भाव यह है कि चन्द्रादि लोकों कें

रहनेवाले जीव भी एक वार मुक्त होकर फिर कभी बन्धन में नहीं पड़ते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है; किन्तु वहां के भी मुक्त जीव लौट आते हैं, क्योंकि वह चन्द्रादिक लोक भी भू-लोकों के समान ही हैं।

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसे इस लोक के पुरुषों की श्रवणमात्र से मुक्ति नहीं होती है, इसी तरह चन्द्रलोक के मनुष्यों की भी श्रवणमात्र से मुक्ति नहीं होती।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो जन्मान्तरों से मुक्ति के वास्ते यत्न करते चले आते हैं वे लोग केवल श्रवणमात्र ही से मुक्ति को प्राप्त हो सकते हैं; इसलिये 'श्रुत्वा मुच्यते' सुनने से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, यह श्रुति भी सार्थक हो जायगी।

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोग-देश-काल-लाभो व्योमवत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आत्मा में जो गति सुनी जाती है उसको इस तरह से समझना चाहिये कि यद्यपि आत्मा शरीर में व्यापक है तथापि उस शरीररूपी उपाधि के योग से अनेक तरह के भोग, देश और समयों का योग इसमें माना जाता है अर्थात् भोगों की प्राप्ति, देशान्तरगमन और प्रातः सन्ध्या आदि का अतिक्रम आत्मा ही में मालूम होता है, परन्तु आत्मा वास्तव में इनसे पृथक् है; जैसे घट का आकाश। घट को उठाकर दूसरी जगह ले जाने से वह आकाश भी दूसरी जगह चला जाता है, इस बात को पहिले कह

चुके हैं कि बिना जीव के सिर्फ वायु ही से शरीर का कार्य नहीं चलता, इसपर आचार्य अपना सिद्धान्त करते हैं।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि आत्मा इस शरीर का अधिष्ठाता न हो, तो शरीर में दुर्गन्ध आने लगे, इस कारण प्राण को शरीर के अधिष्ठाता नहीं कह सकते।

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदङ्कुरे ॥ ६१ ॥

अर्थ—यदि अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राण को शरीर का अधिष्ठाता कहें तो भी योग्य नहीं; क्योंकि प्राण का जब प्रारब्ध के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तो उसको हम अधिष्ठाता कैसे कह सकते हैं ? जैसे अंकुर के पैदा होने में जल भी हेतु है, परन्तु विना बीज के जल से अंकुर पैदा नहीं हो सकता, इसी तरह यद्यपि शरीर की अनेक क्रियायें प्राण से होती हैं तो भी वह प्राण विना आत्मा के कोई क्रिया नहीं कर सकता।

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ॥ ६२ ॥

अर्थ—ईश्वर निर्गुण है, इस कारण उसकी बुद्धि आदि का होना असम्भव (झूठ) है; इस वास्ते वह सब अहंकार के धर्म बुद्धि आदि जीव में ही मानने चाहियें।

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—जो ईश्वर के गुणों से पृथक् शरीरादि युक्त है उसको जीव संज्ञा से बोलते हैं, इस बात को अन्वय-व्यतिरेक से जानना

चाहिये अर्थात् जीव के होने से शरीर में बुद्धि का प्रकाश और न होने से बुद्धि आदि का अप्रकाश दीखता है।

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—अहंकार ही धर्म आदि कार्यों का करनेवाला है, किन्तु धर्म को ईश्वर नहीं कराता; क्योंकि यदि धर्मादि ईश्वर स्वयम् बनावे तो फल देना अन्याय हो जाय।

अदृष्टोद्भूतवत् समानम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस वस्तु के कर्त्ता को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं उस कर्त्ता का हम अनुमान कर लेते हैं। दृष्टान्त—जैसे कि किसी घड़े को देखा और उसके कर्त्ता कुम्हार को नहीं देखा। तब अनुमान से मालूम करते हैं कि इसका बनाने वाला अवश्य है, चाहे वह दिखलाये नहीं। इसी प्रकार पृथिवी आदि अंकुरों का कर्त्ता भी कोई न कोई अवश्य है।

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इसी प्रकार इन्द्रियों की तन्मात्राओं का कर्त्ता भी महत्तत्व के सिवाय किसी को मानना चाहिये। वह कर्त्ता अहंकार ही है।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिबीजाङ्कुरवत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी पुरुष के कर्मों की वासना से अनादि ही मानना चाहिये, जैसे बीज और अंकुर का होना अनादि माना गया है।

अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः ॥ ६८ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कर्म की वासनाओं से नहीं है, किन्तु अविवेक से है, पञ्चशिख आचार्य ऐसा कहते हैं ॥

लिंगशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥ ६९ ॥

अर्थ—लिङ्ग शरीर के निमित्त प्रकृति और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। सनन्दनाचार्य ऐसा मानते हैं।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का चाहे कोई क्यों न सम्बन्ध हो किन्तु किसी न किसी प्रकार से उस सम्बन्ध का नाश हो जाय उसको ही मोक्ष कहते हैं, सांख्याचार्य का यही मत है। "तदुच्छित्तिः" ऐसा दो वार कहना वीप्सा में है। इस अध्याय में जो-जो विषय कहे गये हैं इन विषयों को पहिले पांच अध्यायों में खूब फैलाकर कह चुके हैं, इस वास्ते इन सूत्रों की व्याख्या बहुत फैलाकर नहीं की है।

इति सांख्यदर्शने षष्ठोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

—:o:—

आर्य समाज के नियम

१---सब सत्य विद्या, और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२---ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३---वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४---सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५---सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६---संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है,---अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७---सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८---अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९---प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०---सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।